कबीर के निर्गुण मतवाद के सम्बन्ध में लीला की अवधारणा

(हैदराबाद विश्वविद्यालय हैदराबाद की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध)

1996

शोधार्थी :

अस्मा जबीन

एम्. फिल्

विभागाध्यक्ष :

प्रो. वाय. वेंकटरमण राव

पीएच. डी., ~~डी. लिट्~~

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।

निर्देशक :

प्रो. विजेन्द्रनारायण सिंह

पीएच. डी., डी. लिट

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।

Name of the Research Scholar: **ASMA JABEEN**

Department / Centre: **Hindi - Hyderabad**

University of Hyderabad

This is to certify that I, **Asma Jabeen** have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the **Ph.D. ordinances of the University.**

I declare that no part of this thesis was earlier submitted for the award of any research degree or diploma to any university.

DATE;

Asma Jabeen
SIGNATURE

B. N. Sinha 1/10/96
(RESEARCH SUPERVISOR)

(HEAD OF DEPARTMENT/CENTRE) 1/10/96
Prof. & Head, Dept. of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

3/10/9
(DEAN OF SCHOOL)
DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES,
University of Hyderabad,
Hyderabad-500 134.

अनुक्रमणिका

1. निर्गुण संप्रदाय की दार्शनिक पीठिका
    1. निर्गुण संप्रदाय
    2. एकेश्वरवाद
    3. पूर्ण ब्रह्म
    3.1. ब्रह्म जिज्ञासा
    3.2 संतो की ब्रह्म भावना
    1. आधिभौतिक ब्रह्म भावना
    2. आधि वैदिक ब्रह्म भावना
    3. आध्यात्मिक ब्रह्म भावना
    4. जीव या जीवात्मा
    4.1 जीव की एकता और अनेकता
    4.2 जीव और ब्रह्म का संबंध
    4.3 अंशांशि सम्बन्ध
    4.4 जीव और ब्रह्म का तादात्म्य
        1. भावात्मक
        2. यौगिक
        3. ज्ञानात्मक
    5. जगत या सृष्टि
    5.1 सृष्टि जिज्ञासा
    5.2 जगत सत्ता का स्वरूप
    6. कबीर की दार्शनिक पद्धति
2. निर्गुण मत मे अवतारवाद का सूक्ष्म प्रवेश एवं रूपान्तरण की प्रक्रिया
2.1 निर्गुण और सगुण भक्ति के तत्वो मे समानता
    1. नाम तत्व--ऊँ, राम, कृष्ण, मुरारी, गोविन्द, नरसिंह, हरि, मोहन, मनमोहन, केशव, विष्णु, नारायण, रघुनाथ, रघुराई

2. रूप तत्व

3. मानवीकरण

2.2-- दिव्य रूपता

2.3 रस रूपता

2.4 सगुण भावना का मनोवैज्ञानिक आधार

2.5 सगुण भावना का दार्शनिक आधार

3. निर्गुण संप्रदाय की प्रेम साधना का स्वरूप

3.1 भक्ति और प्रेम

3.2 निर्गुण संप्रदाय के पूर्व मधुरा भक्ति

1. माधुर्य भाव का साहित्यिक रूप

2. संतो की उपासना मे भक्ति

3. संतो की निष्काम भक्ति

4. संतो की भक्ति मे आत्म निवेदन एवं दैन्य

5. भक्ति दु:साध्य

3.3 निर्गुण संप्रदाय मे प्रेम तत्वया मधुरा भक्ति

1. निर्गुणियो का प्रेम तत्व

2. निर्गुणी या संतो की रति

3. संतो की रति के आलम्बन

4. संतो का स्वकीया प्रेम

5. संतो की नायिका

3.4 निर्गुण संप्रदाय के प्रर्वतक कबीर

1. कबीर का प्रेम तत्व या प्रेम साधना

4. निर्गुण मत मे लीला की अवधारणा एवं स्वरूप

4.1 लीला क्या है

2. लीला अर्थ विमर्श

3. काव्यशास्त्रपरक अर्थ

4. दर्शन परक अर्थ

4.2 लीला व्युत्पत्ति परक अर्थ

1. वैदिक वाङमय मे लीला

4.3 निर्गुण की लीला कैसी

1. अलौकिक लीला

2. सृष्टि और लीला विस्तार

3. अवतारी लीला

4.4 कबीर की निर्गुण प्रेम लीला

4.5 प्रेम लीला सबंधी पद (कबीर ग्रंथावली तथा कबीर हजारी प्रसाद द्विवेदी से उद्धृत किये गये)

5. परवर्ती सगुण भक्ति आंदोलन मे लीला के रूपान्तरण की प्रक्रिया

5.1 भारतीय धर्म साधना

5.2 निर्गुण और सगुण भगवान का रूप

5.3 निराकार ब्रह्म का स्वरूप

5.5 ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार

5.6 निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म की कल्पना

5.7 सगुण साकार की उपासना का मनोवैज्ञानिक कारण

5.8 साकार निराकार एक रूप

1. निराकार का साकार रूप

2. निर्गुण निराकार का साकार रूप मे परिवर्तन

5.9 निर्गुण प्रेम लीला का सगुण भक्ति पर प्रभाव

1. कृष्ण धारा पर प्रभाव

मीरा, सूरदास

2. रामधारा पर प्रभाव

तुलसीदास

6. उपसंहार

7. संदर्भ ग्रंथ सूची

प्रस्तावना

हिन्दी का संत साहित्य भारतीय धर्म साधना और भक्ति के सारे पक्षों का निचोड है । इस भक्ति साहित्य में जहां एक ओर वर्णाश्रम धर्म की कठोर व्यवस्था के प्रति विद्रोह, समाज में फैले बह्याचारों के आडंबर का खंडन तथा रूढिगत अंध-विश्वासों का तिरस्कार मिलेगा तो दूसरी ओर वैदिक दर्शन की भांति परोक्ष सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति, प्रेमाभक्ति और एकेश्वरवाद के तत्व भी विद्यमान है । इसी संक्रमण काल मे संतमत के प्रवर्तक कबीर ने दोनो धर्मों को एक बोध का मार्ग दिखाया जो सत्य और प्रेम पर आधारित था । संतो ने वैष्णव, सूफी, इस्लामी, योगियों और बौध्दो के दर्शनों से प्रभावित होकर उन धर्मों से अनेक तत्व अपनाये और एक नवीन मार्ग खोज निकाला ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "कबीर के निर्गुणमतवाद के संबंध में लीला की अवधारणा" उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर लिखने का प्रयास किया गया हैं ।

कुछ आलोचक कबीर को निर्गुणवादी मानते हैं, परन्तु कबीर को पूरी तरह निर्गुणवादी नहीं कहा जा सकता । "निर्गुण ब्रह्म" से उनका तात्पर्य भगवान के गुणमय शरीर की कल्पना या रूप नहीं हैं । निर्गुणवाद मे ब्रह्म की केवल कल्पना की गयी है । सगुणवादियों ने ब्रह्म की कल्पना नहीं की परन्तु उन लोगो ने अवतारवाद को ग्रहण किया । निर्गुणियों और सगुणो में यही मूल अन्तर है कि निर्गुण मत मे ब्रह्म की कल्पना की गयी है तथा अवतारो का खंडन किया गया हैं, उन्हे ब्रह्म को एक रूप देकर आकार में सीमित करना मान्य नहीं था । वे तो ब्रह्म को सत्व, रज, तम तीनों गुणो से अतीत और सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त मानते हैं । उनका हरि अ गुण सगुण सब से परे संपूर्ण विश्व में व्याप्त है । यही संतो का निर्गुण ब्रह्म हैं जिसे उन्होने अपनाया हैं । उसे चाहे हम किसी भी रूप मे देखे, किसी भी नाम से पुकारे वह तो घट-घट मे समाया हुआ हैं । कबीर ने इसी निर्गुण राम को प्रेम से प्राप्त करने की बात कही हैं ।

वेदान्त में जिसे "ब्रह्म जिज्ञासा" कहा गया है वह वस्तुत: भक्ति ही हैं। प्रेम भक्ति का पहला सोपान हैं। बिना प्रेम के भक्ति असंभव है। संतो ने प्रेम भक्ति को अत्याधिक महत्व दिया हैं। कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि "बिना सिर कटाये प्रेम नहीं किया जा सकता" अर्थात् प्रेम के लिए अंह का त्याग और बिना शर्त आत्म समर्पण आवश्यक है जो इन संतो में सर्वत्र दिखायी देता है।

संतो ने सगुणवादी भक्तो की तरह ब्रह्म से लीला का भी वर्णन किया हैं। प्रश्न यह उठता है कि निर्गुण, अगम्य, अगोचर ब्रह्म से प्रेम लीला कैसे हो सकती है? प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में निर्गुण की प्रेम लीला को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यह पक्ष निर्गुणवादियों की प्रेम लीला और बहुत कुछ ब्रह्म के अस्पष्ट आकार को प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होगा।

लीला भगवान के आनंद स्वरूप का प्रकाश हैं। भगवान स्वयं प्रेममय हैं और उसे प्रेम द्वारा ही पाया जा सकता हैं। प्रेम से प्राप्त आनंद ही जीवन आधार है। कबीर आदि संतो की भक्ति साधना का केन्द्र बिन्दु प्रेम लीला हैं। किन्तु इस लीला का स्वरूप सगुण से भिन्न हैं। सगुण भक्ति लीला केवल भगवान के रूप को देख कर आनंद लेती है परन्तु संतो की लीला में भक्त भगवान के साथ लीला करता हैं। दोनो एक दूसरे में रम जाते हैं। निर्गुणवादियों में प्रेम आत्म प्रक्षेपन के रूप में है, भक्त स्वयं को ही प्रेमिका बना लेता हैं। सगुण भक्ति लीला में भक्त भगवान की प्रेम लीला का वर्णन करता है वह द्रष्टा है। कबीर ने जो लीला का स्वरूप उपस्थित किया है वह बहुत व्यापक और विशाल है। कबीरदास ने प्रेम लीला को एक वीर्यवती साधना के रूप मे देखा हैं।

अर्थात् यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि परवर्ती सगुण भक्ति आंदोलन में ब्रह्म के अवतार की कल्पना और प्रेम लीला के तत्व निर्गुण भक्ति से आये है तो आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में कबीर की भक्ति निर्गुण से सगुण की ओर उन्मुख होने का संकेत देती हैं।

उनकी भक्ति निर्गुण और सगुण के मध्य कड़ी हैं । कबीर न ही पूरी तरह से निर्गुण थे और न ही पूर्ण रूप से सगुण भक्ति को स्वीकार किया था । अर्थात् उनकी भक्ति प्रेमाश्रित परम ब्रह्म सर्व विश्व व्यापी राम की भक्ति हैं । अपने आराध्य को पाने के लिए उन्होंने लौकिक प्रतीकों का सहारा लिया, प्रेम में उनकी विह्वलता, तड़प, लगन, विरह आदि सभी दशाएँ सगुण भक्तों की तरह है । लीला वास्तव में सगुण साकार की होती है परन्तु कबीर की लीला मानव गुणो से रहित ईश्वर की है । प्रस्तुत प्रबंध को पांच अध्यायों में विभक्त किया गया हैं । प्रथम अध्याय "निर्गुण सम्प्रदाय की दार्शनिक पीठिका" । इस अध्याय के अन्तर्गत निर्गुण शब्द और निर्गुण सम्प्रदाय को स्पष्ट करते हुए विभिन्न संप्रदायों के दार्शनिक विचारों पर विचार किया गया है तथा उन विचारों, का संत संप्रदाय पर प्रभाव तथा दर्शन को स्पष्ट किया गया हैं । दार्शनिक पीठिका के अन्तर्गत ब्रह्म, ब्रह्म जिज्ञासा, जीव और जीव और ब्रह्म का संबंध तथा जगत की सत्ता और कबीर की दार्शनिक पद्धति का उल्लेख किया गया है ।

द्वितीय अध्याय "निर्गुण मत में अवतारवाद का सूक्ष्म प्रवेश एवं रूपान्तरण की प्रक्रिया हैं । इस के अंतर्गत निर्गुण और सगुण भक्ति तत्वों का विवेचन, उनकी समानता, नाम तत्व, रूप तत्व तथा सगुण भावना का मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार स्पष्ट किया गया हैं ।

तृतीय अध्याय "निर्गुण सम्प्रदाय की प्रेम साधना का स्वरूप" है । जिसमें भक्ति और प्रेम, निर्गुण सम्प्रदाय से पूर्व मधुरा भक्ति, निर्गुण सम्प्रदाय में प्रेम तत्व और कबीर की प्रेम साधना के स्वरूप पर चर्चा की गयी हैं ।

चतुर्थ अध्याय "निर्गुण मत में लीला को अवधारणा एवं स्वरूप से संबंधित है । इस अध्याय में लीला के अर्थ, उसकी परिभाषा, व्युत्पत्ति और निर्गुण लीला का विवेचन किया गया हैं । कबीर की निर्गुण प्रेम लीला से संबंधित पद भी उद्धृत किये गये हैं ।

पंचम तथा अंतिम अध्याय है "परवर्ती सगुण भक्ति आंदोलन मे लीला के रूपान्तरण की प्रक्रिया" । इस सबंध में निर्गुण संतो की साधना एवं स्वरूप, साकार-निराकार ब्रह्म के रूप का वर्णन, निराकार का साकार रूप और इस रूप का परवर्ती सगुण भक्ति आंदोलन के कृष्ण तथा राम भक्ति शाखा के भक्तों पर प्रभाव दिखाया गया हैं ।

प्रत्येक अध्याय के अंत में विवेचन का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है । प्रबंध के अंत मे निष्कर्षों के सार रूप में उपसंहार प्रस्तुत हैं । प्रस्तुत प्रबन्ध निर्गुण मत के दार्शनिक, भक्ति-प्रेम, लीला जैसे गहन विषयों का विवेचन और अध्ययन हैं । हिन्दी निर्गुण सम्प्रदाय पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो उसमें सगुण तत्वो का प्रवेश दिखाई देगा । यह एक ऐसा घटना तथ्य है जिसके विश्लेषण से इस निर्गुण पंथ की मौलिक व्याख्या की जा सकती हैं । प्रबन्ध की प्रतिज्ञा यही है कि निर्गुण तत्व में सगुण तत्व के प्रवेश होने के कारण आगे चलकर सगुण भक्ति आंदोलन में अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो पायी हैं । इस विवेचन से यह भी सिध्द होता है कि अवतारवाद और लीला बुनियादी तौर से भक्ति आंदोलन के केन्द्रीय वक्तव्य हैं । सगुण भक्ति के बहुत से तत्व बीज रूप में निर्गुण धारा में विद्यमान थे । जिसका परिणाम अवतारवाद के रूप में दिखायी देता हैं । सगुण भक्ति आंदोलन में निर्गुणियों का प्रेम तत्व पूर्ण रूप से आया हैं । निर्गुणियों का अस्पष्ट ब्रह्म सगुण भक्ति तक आते आते एक आकार, एक रूप ग्रहण करने लगा था । यदि सगुण भक्ति को निर्गुण भक्ति का विकास और विस्तार कहा जाय तो अनुचित न होगा ।

यह शोध प्रबंध परम श्रध्देय गुरूवर श्री विजेन्द्र नारायण सिंह जी के सुयोग्य निर्देशन में लिखा गया है । विषय चयन से लेकर समापन तक उन्होने महत्वपूर्ण सुझाव एवं निर्देश दिया हैं । मैं श्रध्देय गुरूवर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूं । उनकी छाया और स्नेह को मैं अपना सौभाग्य समझती हूं । उन्होने अपने निर्देशन में मुझे यह कार्य करने का जो अवसर प्रदान किया है, उनका धन्यवाद करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं ।

उन्होने कार्य को पूर्ण करने के लिए जो प्रोत्साहन दिया हैं उसके लिए मैं उनकी आभारी हूं ।

मैं विशेषकर श्रध्देय माता-पिता और अपने परिवार जनों की आभारी हूं जिनके सहारे यह प्रबंध पूरा हो सका । समय-समय पर इन लोगो ने मेरा उत्साह बढाया और इसे पूर्ण करने की शक्ति दी ।

अन्य जिन व्यक्तियों, मित्रों से किसी भी तरह की सहायता मिली है, मैं उनके प्रति आभार प्रकट करती हूं ।

****

प्रथम-अध्याय

निर्गुण सम्प्रदाय की दार्शनिक पीठिका :

1. निर्गुण संप्रदाय

2. एकेश्वर वाद

3. पूर्ण ब्रह्म

3.1 संतके ब्रह्म जिज्ञासा

3.2 संतो की ब्रह्म भावना

3. I. आधिभौतिक ब्रह्म भावना

   II. आधिदैविक ब्रह्म भावना

   III. आध्यात्मिक ब्रह्म भावना

4. जीव या जीवात्मा

4.1. जीव की एकता और अद्वैतता

4.2 जीव और ब्रह्म का संबंध

4.3 अंशांशि सम्बन्ध

4.4 जीव और ब्रह्म का तादात्म्य

   I. भावात्मक

   II. यौगिक

   III. ज्ञानात्मक

5. जगत या सृष्टि

5.1 सृष्टि जिज्ञासा

5.2 जगत सत्ता का स्वरूप

6. कबीर की दार्शनिक पद्धति

निर्गुण संप्रदाय की दार्शनिक पीठिका

निर्गुण संप्रदाय :

निर्गुण शब्द का अर्थ हिन्दी शब्द कोश में सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणो से परे अर्थात परमेश्वर से हैं । अर्थात् निर्गुण शब्द अपने परिभाषिक रूप में सत्वादि गुणों से रहित या उन से परे समझी जाने वाली किसी ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का बोधक हैं, जिसे बहुधा परम तत्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओ द्वारा अभिहित किया जाता हैं ।

निर्गुण शब्द "शवेताश्वतरोपनिषद" (6।।।) में उस अद्वितीय "देव" (परमात्मा) का एक विशेषण बन कर आया हैं, जो सभी भूतो में अन्तर्हित हैं, सर्व व्यापी हैं, सभी कर्मों का अधिष्ठाता हैं, सब का साक्षी हैं, सब को चेतनत्व प्रदान करने वाला तथा निरूपाधि भी हैं । उसी की ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण ने गीता में भी कहा हैं " उस में सब इन्द्रियों के गुणो का आभास हैं पर उस में कोई भी इन्द्रिय नहीं है, वह सब से अलग होकर भी सब का पालन करता है और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपयोग किया करता है ।

(गीता--13।14)

इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अन्यत्र (71,12,13) भी कहा हैं-- "यह समझ लो कि जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामसभाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे सब मुझ से ही हुए है किन्तु वे मुझ में है मैं उन में से नहीं हूं । इन तीनों गुणात्मकभाव से अर्थात्, पदार्थों से मोहित होकर यह सारा संसार इन से परे को (निर्गुण) मुझ अव्यय को नहीं जानता " । अतएव जो कुछ भी पदार्थ त्रिगुणात्मक रूप मे दीख पडता है वह मेरी "गुणमयी" माया का अंश हैं, जो परमात्म तत्व हैं उसे मायातीत भी कह सकते हैं ।

प्रसिद्द "नासदीय सूक्त" में भी निर्गुण के विषय में यही बात कही गयी हैं कि "जब सृष्टि का आविर्भाव नहीं था, तब न सत् था, न असत् था और न राजस ही था तब भी निर्गुण था ।

संत कबीर "निर्गुण" शब्द का एक पर्याय "अगुन" भी देते हैं ।

(क्र. ग्र.

वे उसके द्वारा सूचित करते हैं कि निर्गुण "गुण अतीत" है और फिर उसे "निर्गुण ब्रह्म" भी कहकर उसकी उपासना का उपदेश देते हैं । वह गुणातीत होने के कारण निर्गुण कहलाता हैं । कबीर उसे अकथनीय कह कर राजस, तामस और सात्त्विक गुणों को उसकी माया कहते हैं तथा वह निर्गुण ब्रह्म को इन तीनो गुणों से परे "चौथा पद" कहते हैं ।

परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में "संप्रदाय" शब्द के पूर्व आ जाने के कारण यह उन व्यक्तियों को ओर भी संकेत कर सकता हैं जो उक्त प्रकार की शक्ति में विश्वास करते हों तदनुसार उन्ही के समुदाय को "निर्गुण संप्रदाय" भी सूचित किया जा सकता हैं । इस प्रकार जहां संप्रदाय शब्द का अर्थ गुरूपरम्परगत उपदेश होगा वहां निर्गुण संप्रदाय से अभिप्राय उस पद्धति से हो सकता हैं जिस में उक्त प्रकार की सत्ता में आस्था रखने का उपदेश दिया जाता हो अथवा जहां इस संबंध में विशिष्ट नियम प्रचलित हों । ऐसे लोगों की विचारधारा को "निर्गुण मत" कहा जाता हैं और उसी अभिप्राय को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए कभी कभी निर्गुण संतमत भी कहा जाता हैं । निर्गुण मत को मानने वाले तथा निर्गुण संप्रदाय में सम्मिलित सदस्यों को लोगों ने "निर्गुणिया" भी कहा हैं । इस दृष्टि से निर्गुण संप्रदाय को दूसरे शब्दो में निर्गुनियों का संप्रदाय भी कहा जाता हैं । "निर्गुण संप्रदाय" शब्द के पर्याय रूप में निर्गुण पंथ एवं निर्गुण मार्ग शब्दों का प्रयोग भी किया गया हैं और ये दोनों ही उक्त निर्गुण मत का प्रचार करने वाली साम्प्रदायिक मण्डली विशेष के उस संघटन को सूचित करते हैं जिसका निर्माण वैसे उद्देश्य के अनुसार किया गया हो । इसे कभी कभी "संत-संप्रदाय" भी कहते हैं ।

सर्व प्रथम जब मुसलमानों ने भारत मे आकर नवीन भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद की स्थापना की तो सगुणोपासना से भिन्न एक ऐसी नयी भक्ति धारा का विकास हुआ जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था तो कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर तथा इस सामान्य भक्ति मार्ग को निर्गुण पंथ भी कहा गया । इस मार्ग की ओर ले जाने वाली सब से पहली प्रवृत्ति ऊंच-नीच और जाति-पांति संबंधी भाव में त्याग एवं ईश्वर भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समान अधिकार की स्वीकृति में दीख पडी थी । इस निर्गुण मार्ग का प्रधान प्रवर्तक कबीर को माना गया जिन्होने एक ओर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण की और दूसरी ओर सूफी फकीरों के संस्कार अपनाये । कबीर का उद्देश्य यह था कि भिन्न-भिन्न बाह्य विधियो से ध्यान हटा कर जिन के कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, शुद्ध ईश्वर प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार किया । इसके परिणाम स्वरूप भक्तिकाव्य के अंतर्गत सगुण और निर्गुण नाम से दो भिन्न-भिन्न धाराएँ पन्द्रहवी शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक समानान्तर चलती रही । इस प्रकार निर्गुण धारा एक साहित्यिक प्रवृत्ति हैं, जो निर्गुण पंथ या निर्गुण संप्रदाय के प्रभाव में "संत कवियों" की रचनाओ में पायी जाती हैं ।

धर्म और दर्शन की अनुभूतियाँ प्राचीनकाल से ही मध्य देश में पल्लवित और पुष्पित होती रही हैं । परन्तु उस समय के शास्त्रीय बंधनों में इतनी जकडी हुई थी कि साधारण जनता तक नहीं पहुंच सकी । केवल वर्गगत पुनीत परिवेशो में सीमित रह कर पवित्र सूक्तों और सूत्रों से आलोकित होती रही हैं, निर्गुण संप्रदाय के संतो ने इन बंधन को तोडकर धर्म और दर्शन को साधारण जनता के लिए ग्राह्य बनाने का कार्य किया । धर्म के बारे में उन्होने वर्ग, संप्रदाय विभाजक सारी सीमाओं को मिटा दिया और मानवता का प्रचार किया । उस में हिन्दू मुसलमान एवं ब्राम्हण और शूद्र अपने कर्मकाण्ड और आडम्बर को छोड़ कर एक पंक्ति में खडे हो गये व्यक्तिगत हीनता या महानता को छोडकर पारस्परिक समता और एकता के पाश में आबद्ध हो गये ।

जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है । धर्म का प्रधान अंग विश्वास और भक्ति है । विश्वास का संबंध ईश्वर की सर्व व्यापकता और सर्व शक्ति मत्ता में है । भक्ति का संबंध निश्छल श्रद्धा और प्रेमानुरक्ति में हैं ।

आठवी से चौदहवीं शताब्दी तक दक्षिण में ही भारतीय दर्शन और धर्म का जनता व्यापी महत्व घोषित किया । धार्मिक सिद्धान्तो में परिष्कार और संशोधन करते हुए संतो ने भक्ति के विविध संप्रदाय प्रचारित किये । शंकर ने अद्वैत और रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के द्वारा इस विचार धारा को सिद्धान्त सम्मत बनाया । निर्गुण संप्रदाय की दार्शनिक पीठिका शंकर और रामानुज के सिद्धान्तो से प्रभावित है । दार्शनिक सिद्धान्तो के अंतर्गत आत्मा, परमात्मा, जगत के नियामक धर्म और जीवन के अंतिम लक्ष्य आदि का निरूपण होता हैं ।

एकेश्वरवाद :

डॉ. पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के अनुसार "जिन परिस्थितियों ने नवीन निर्गुण पंथ को जन्म दिया था, एकेश्वरवाद उसकी सब से बडी आवश्यकता थी ।[1] उपनिषदों ने स्थान-स्थान पर बहुदेववाद तथा कर्मकाण्ड आदि का विरोध किया तथा वेदान्त के अद्वैतवादी सिद्धान्तो को ही मान्यता दी परन्तु हिन्दू बहु देववाद में फंसे हुए थे । दूसरी ओर इस्लामिक एकेश्वरवाद से प्रभावित संतो ने इन पांखडपूर्ण ब्राम्हण और बहुदेववाद का खंडन करते हुए अद्वैतवाद को महत्व दिया तथा दोनो के लिए निर्गुण निराकार एकेश्वर का संदेश दिया । निर्गुणी संतो ने बहुदेववाद का घोर विरोध किया ।

यह सिर नवे त रामकूं, नाही गिरियो टूट
आन देव नहि परसिए, यह तन जायो छूट ।।

सं. बा. सं. 1- पृ. 147.

चरनदास कहते हैं कि "सिर टूट कर पृथ्वी पर भले ही लोटने लगे, मृत्यु भले ही आ उपस्थित हो, परन्तु राम के सिवा किसी अन्य देवता के लिए मेरा सिर न झुके ।

निर्गुणी एकेश्वर के भक्त को आलंकारिक भाषा में पतिव्रता नारी कहते हैं । कबीर की दृष्टि में बहु-देववादी उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान जो अपने पति को छोड़कर औरों पर आसक्त रहती हैं । अथवा उस गणिका पुत्र के समान है जो इस बात को नहीं जानता कि उसका वास्तविक पिता कौन हैं ।

राम पियारा छाँडिकर करै कौन कू जाप
वेश्या केरा पूत ज्यों कहै कौन कू बाप ।

(क. ग्र. – पृ. 6)

नानक ने भी बहु देववाद का खंडन किया और "ॐ सतिनामु करता पुरुष" की भक्ति का प्रचार किया ।

कबीर ने भी बहुदेवोपासना का खुलकर विरोध किया और हिन्दुओं को संबोधित करते हुए कहा---

एक जनम के कारण कत पूजो देव सहेसारे
काहे न पूजो राम जो जाके भक्त महेसा रे ।।

उन्होने परमात्मा के विभिन्न नामों का उल्लेख करते हुए कहा है कि सब का ईश्वर एक ही है उसे चाहे किसी भी नाम से पुकारो ।

दुई जगदीस कहां ते आये, कहु कौन भरमाया
अल्ला, राम, करीमा, केसो हरि हजरत नाम धराया ।

निर्गुण संतो ने इस बात पर अधिक जोर दिया हैं कि जगत का कर्ता धर्ता एक ही परमात्मा है जिसको सभी धर्म वाले सिर नवाते हैं । इसी बात को स्पष्ट करते हुए कबीर ने कहा हैं ---

कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई
हिन्दू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई ।।

डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में हिन्दू बहुदेववाद वैसा नहीं है जैसा बाहर बाहर देखने से प्रकट होता । हिन्दुओं के प्रत्येक देवता का द्वैध रूप है--- एक व्यवहारिक और दूसरा परमार्थिक अथवा तात्त्विक । व्यावहारिक रूप में वह परब्रह्म परमात्मा के किसी पक्ष विशेष का प्रतिनिधि है जिसके द्वारा याचक भक्त अपनी याचना की पूर्ति की आशा करता हैं । [1]

अर्थात् इसी कारण परमात्मा के अनेक रूप दिखाई देते हैं ब्रह्मा विश्व का सृजन करता हैं, विष्णु पालन और रूद्र उसका उद्देश्य पूर्ण होने पर संहार करता हैं । इसी तरह लक्ष्मी को धनधान्य की अधिष्ठात्री, सरस्वती को विद्या, चंडी को शक्ति की देवियाँ कहा गया है । परन्तु सब देवी-देवता परमार्थ रूप से एक ही है केवल व्यवहारिक पक्ष में पूर्ण ब्रम्ह परमात्मा के अधिनस्थ है ।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर चिंतक मैक्समूलर ने भारतीय देववाद को (बहुदेववाद) न कह कर Heinotheism (हीनोथीज्म) कहा है । हिन्दू पूजा विधान चाहे किसी भी नाम से पुकारा जाय परन्तु उसके मूल में निश्चय ही एकेश्वर भावना हैं । ऋग्वेद में जिन प्राकृतिक शक्तियों का गान तथा पूजा वैदिक ऋषियों द्वारा की जाती थी उस समय की बुद्धिमान लोग एक परमात्मा के दर्शन करते थे चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारे जैसे अग्नि, इन्द्र, मातारिश्वान आदि ।

---

1. एकं सद्विप्रा बहुधा वंदत्यग्नि मिन्द्र मातरिश्वान माहु ।"

(ऋ. 2,3,23,6)

अतएव जो अलग-अलग देवता समझे जाते है वे वस्तुत: अलग न होकर एक ही परमात्मा के अलग-अलग रूप हैं । इसी बात को अपनी पुस्तक "हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय" के अंतर्गत डॉ. पीताम्बर बड़थ्वाल ने कहा कि "हिन्दू धर्म की इसी भावना को ध्यान में रखकर स्पेन निवासी अरब वंशी काजी सईद ने जिसकी मृत्यु सं. 1127 में हुई थी लिखा था कि हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान ईश्वर की एकता के सिद्धान्त से पवित्र है ।

तबकातुल उमम (बैरूत संस्करण) पृ. 15, अरब और भारत के संबंध पृ. 174)

डॉ. ग्रियर्सन ने भी हिन्दुओं की मूर्तिपूजा और बहुदेववाद को केवल बाहरी आवरण मात्र कहा हैं । कबीर जानते थे कि एक परमात्मा को अनेक नामों से पुकारने से वह अनेक नहीं हो जाता । उन्होने स्वयं ही कहा था "अपरंपार का नाऊं अनंत" । निर्गुण संतो ने परमात्मा संबंधी विचारो को व्यक्त करते हुए बहुदेवोपासना का खंडन किया और एकेश्वरवाद पर जोर दिया ।

इस्लाम में भी उस एक परमात्मा के गुणो की चर्चा की गयी है । वह एकाधिपति, अनंतशक्ति रखने वाला अपरिमित हैं । वह परम बुद्धिमान और न्यायकर्ता है । कुरान के अनुसार जिधर ही मुडो उधर अल्लाह हैं । कुरान का प्रत्येक सूरा अल्ला की दयालुता का उल्लेख करते हुए आरंभ होता हैं । वह क्षमाशील है और प्रेममय भी । वह प्रेम का परमात्मा होने के साथ-साथ भय का भगवान भी हैं । वह पापों के बदले दंड भी दे सकता हैं । इस्लाम के प्रेरक भाव परमात्मा का प्रेम नहीं अल्लाह का भय हैं ।

परमेश्वर की इस अनंत शक्ति को निर्गुण पंथी भी स्वीकार करते हैं पर उनका इस्लाम के परमात्मा से एक मतभेद है । वे परमब्रह्म को प्रेममय और प्रेम से हो पाने में विश्वास रखते हैं, जहां इस्लाम उससे डरने की बात कहता हैं वहां निर्गुणी संत उससे प्रेम करने को बात कहते हैं । इस्लामी मुसलमानों के भक्त की भांति निर्गुण संतो ने भी परमात्मा का दर्शन कण-कण में किया हैं। उनका परमात्मा भी विश्व का कर्ता धर्ता नियन्ता, शासक और घट-घट में व्याप्त व्यापक तत्त्व हैं ।

संतो पर वैदिक अद्वैतवाद का भी प्रभाव पडा हैं । वेद की अनेक उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं । कबीर ने सर्वत्र वेदों की भांति ब्रह्म की एकता और अद्वैतता दोनो एक साथ ध्वनित की हैं । इन संतो पर वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों का भी प्रभाव अवश्य पडा हैं । वैष्णव धर्म के सभी ग्रंथो में भगवान के दोनों स्वरूपों का वर्णन मिलता हैं । भागवत में कई स्थानों पर निर्गुण ब्रह्म का महत्व प्रतिपादित किया गया हैं । दादू ने वेदान्त के दृष्टान्त के सहारे यह स्पष्ट किया है कि "दूध में घी की तरह परमात्मा विश्व में सर्वत्र व्याप्त हैं ।" परमात्मा सब जगह अपनी पूर्ण सत्ता के साथ विद्यमान हैं । इस विश्व में पूर्ण रूप से व्याप्त होने पर भी वह उस पूर्ण रूप से उसके परे हैं । जब मनुष्य पूर्ण सत्य तक पहुंचता है तब संदेह निश्चय में परिणत हो जाता हैं और प्रिय हृदय में तथा हृदय प्रिय में बसा हुआ दिखाई देता हैं । कबीर ने भी इसी तरह दृष्टान्त देते हुए कहा है कि परमात्मा विश्व में और विश्व परमात्मा में अवस्थित है ।

खालिक खलक खलक मे खालिक सब घट रह्या समाई ।

परमात्मा की इसी व्यापकता के कारण कबीर उसे मंदिर मस्जिद तक सीमित रखना मूर्खता समझते हैं । निर्गुणी को मंदिर मस्जिद से कोई प्रयोजन नहीं । वह जहां देखता है वहीं उसको परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं । सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा है, सत्ता केवल उसी की हैं । यहां पर संतो के विचार पूर्णतः इस्लामी एकेश्वरवाद से साम्य रखते हैं । उनका परमात्मा भी घट घट व्यापी और अनन्त हैं, जहां देखो वही विद्यमान हैं ।

जहँ देखौ तहँ एक ही साहब का दीदार

(सं. बा. सं. । पृ. 33

इस तरह स्पष्ट है कि निर्गुणी संतों में एकेश्वर की भावना वैदिक उपनिषदों और इस्लामी एकेश्वरवाद से प्रभावित हैं । वे भी दोनों की भांति सर्वत्र परमात्मा के ही दर्शन करते हैं । यह एकत्व की भावना वैदिक आधार भूमि है जिस पर इस्लाम के भी सिद्धान्तो का प्रभाव पडा है । वेदों के अनुसार सारी सृष्टि पर उसकी सत्ता ही है । वही सभी रूपों में भासित होते हुए भी एक ही है ।

एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति
अग्नि यमं मातरिश्व निमाहु:

ऋ सं. अ. 2

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हैं कि निर्गुणी संतो ने न ही साकार ब्रह्म की पूजा की है और न ही उसे किसी अवतार के रूप में ग्रहण किया । उन्होने एक बीच का मार्ग निकाला जो दोनो धर्मों के लोगों के मान्य था । संतों ने परमात्मा के एक होने की घोषणा की और उसे सर्वत्र व्याप्त बताया । वही इस सृष्टि का कर्ता धर्ता और अनंत शक्तियों से पूर्ण विधाता है । उस एकेश्वर को ही सब सिर नवाते है ।

पूर्ण ब्रह्म :

ब्रह्म जिज्ञासा :-

मनुष्य का स्वभाव शुरू से ही चिंतनशील है । वह इस सृष्टि के बारे में, इसके रचियता के बारे में तथा उसकी खोज में विचार करता आया हैं । महात्मा कबीर ने भी कहा है कि उनके जीवन का लक्ष्य ब्र-- विचार करना ही हैं । क्र. ग. पृ. 573 उपनिषदों में भी ब्र-- ज्ञान की दुर्लभता का संकेत बार बार किया गया हैं । यह आत्म ज्ञान सरलता से प्राप्त नहीं होता जिस पर परमात्मा की कृपा होती हैं उसी की प्रवृत्ति इस ओर बढती हैं । इस प्रवृत्ति के उदय होते ही साधक के हृदय में तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं ।

वह ब्रह्म को जानने के लिए उत्सुक होता है । इस ब्रम्ह जिज्ञासा के बिना ब्रह्मानुभूति संभव नहीं हैं । इस जिज्ञासा के ... उदय होते ही उससे साक्षात्कार के लिए साधक तडप उठता हैं । इसी अवस्था में वह गुरू की आवश्यकता अनुभव करता हैं और गुरू की खोज में निकल पडता हैं । कबीर के अनुसार जिस पर गोविन्द की कृपा होतीहै उसे गुरू मिल जाता हैं ।

जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरू मिलया आई

{क. ग्र. पृ. 2}

सद्गुरू की प्राप्ति होते ही साधक में ज्ञानोदय हो जाता हैं । इस ज्ञानोदय के फल स्वरूप उसमें ब्रह्म जिज्ञासा और उसके प्रति अनन्य प्रेम जाग्रत होता हैं । ज्ञानोदय के कारण वह ब्रह्म को पाने की चेष्टा करता हैं उसकी अनुभूति, उसका साक्षात करना चाहता हैं । उसकी यह जिज्ञासा और प्यास ही उसे भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर करती है । वह उस पूर्ण ब्रह्म को देखना चाहता है और उससे तादात्म्य करना चाहता है ।

संतो की ब्रह्म भावना :

संसार के कण-कण में एक अलौकिक अनिर्वचनीय एवं अव्यक्त सत्ता विद्यमान हैं । इसी सत्ता और आत्मगत अनुभूति का नाम ब्रह्म भावना हैं । यह ब्रह्म भावना तीन प्रकार की होसकती हैं ।

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ।

आधिभौतिक ब्रह्म भावना अधिकतर जड़वादियो की होती है । वे इस जड़ सृष्टि को ठीक वैसा ही समझते हैं जैसा कि उन्हे दिखाई देते हैं । पदार्थों के बाह्य रूप के अतिरिक्त वह उनके आंतरिक सौन्दर्य को नहीं देख पाते ।

आधिदैविक ब्रह्म भावना :- संपन्न साधक सृष्टि के बाह्य सौन्दर्य और शक्ति का दैविकरण करके उन्हे साकार सगुण रूप में चित्रित करता है । गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार वे बहुदेववाद का प्रवर्तन इसीके फलस्वरूप समझते हैं । भक्तों की भावना अधिकतर आधिदैविक होती हैं ।

भक्त उद्धार की आशा से दृढ अवलंबन की आवश्यकता का अनुभव करता हैं जो दूर से होने पर भी निकट से निकट हो । परमात्मा के आधिदेवत्व और व्यापक नाम रूप की उपाधियो से रहित उस परम तत्व को वह इसी पक्ष की दृष्टि से देखता हैं । बुध्दि मूर्त रूप का आधार चाहती हैं और वाणी रूपक का इसलिए उस अमूर्त और अनुपम को ग्रहण करने में बुद्धि और व्यक्त करने में वाणी असमर्थ हैं ।

आध्यात्मिक ब्रह्म : भावना इन दोनो से श्रेष्ठ हैं । इस में भक्त की दृष्टि केवल बाह्यात्मक सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहती और नहीं वह ब्रह्म की सत्ता का दैविकरण करती हैं । उस में ब्रह्म सत्ता का अनुभव निर्गुण निराकार और अविर्वनीय सत्ता के रूप में होता हैं । साधक विश्व की प्रत्येक वस्तु में सत्य के दर्शन करता हैं । जहां तक कबीर आदि संतो का संबंध है उन लोगों को ब्रह्म भावना पूर्ण आध्यात्मिक हैं । यह आध्यात्मिक दृष्टि उसी को प्राप्त हो सकती है जिस ने तर्क का त्याग किया हो ।

सर्व भूत एकै कर जान्या चूके वाद विवाद

क. ग्रं. पृ. 284

संतों के अनुसार बुद्धि से हमें उन्ही पदार्थों का ज्ञान हो सकता हैं जो इंद्रियो से गोचर हैं, इंद्रियातीत का नहीं । यही कारण हैं कि "यह परमात्मा हैं" ऐसा कह कर उसका निर्देश नहीं किया जा सकता । इसी तरह नानक ने भी कहा था कि लाख सोचने पर भी उस परमात्मा के बारे में सोचते नहीं बनता ।" ।

सोचै सोच न होवई जो सोचै लख बार ।

(ग्रंथ पृ. 1)

इसी कठिनाई के कारण सब सत्यान्वेषकों को नकारात्मक प्रणाली का अनुसरण करना पडता हैं । "परमात्मा यह हैं" न कहकर वे कहते हैं परमात्मा यह नहीं है"

"स एष नेति नेति आत्मा"

बृहदारणयकोपनिषद

(4.4.22)

इसी तरह कहकर उपनिषदो की प्रणाली का अनुगमन किया हैं । संतो ने भी इसी तरह कहा है-- परमात्मा अवरण हैं , अकल हैं, अविनाशी हैं, न उसके रूप हैं, न रंग, नं देह ।

रूप वरण वाके कुछ नाही सहजो रंग न देह ।

सहजो, सं.बा.सं. पृ. 16

इसी तरह का वर्णन करते हुए उसे अनिर्वचनीय ज्योति स्वरूप भी कहा गया हैं ।

चन्द्र सूरज हुई जोति स्वरूप
ज्योति अन्तर ब्रह्म अनूप
सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा
सब महि पसरा, ब्रह्म पसारा ।।

क.ग्र. पृ. 203

यही आध्यात्मिक भावना हैं । अद्वैतवाद इसी आध्यात्मिक दृष्टि का परिणाम हैं । कबीर की इसी आध्यात्मिक दृष्टि का वर्णन इन शब्दों में मिलता हैं ।

खालिक खलक खलक मै खालिक
पूरे रह्यो सब ठाई ।।

क.ग्र. पृ. 268

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा हैं कि "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी हैं । वह कुछ भी छोडना नहीं चाहती, इसीलिए वह ग्रहणशील हैं, वर्णनशील नहीं, इसीलिए उन्होने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी, प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड रखा हैं ।"

{कबीर का योग {आचार्य क्षितिमोह सेन--योगांक कल्याण-पृ. 255}

इस कथन के अनुसार कबीर का ब्रह्म निरूपण वैदिक ब्रह्म निरूपण के ढंग पर होने पर भी अनेक धर्मों की ब्रह्म भावनाओ से प्रभावित हैं । जहां पर उन्होने योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षणवाद के ढंग पर ब्रह्म वर्णन किया, वहां पर बौद्धों, सिध्दो और योगियों के शून्यवाद की धूमिल छाया भी देखी जा सकती हैं ।

इस्लामिक एकेश्वरवाद और सूफियों के नूरवाद, इश्कवाद का भी इन संतो पर प्रभाव दिखाई पडता है । परमात्मा के रूप का वर्णन करना कठिन काम हैं । वह जैसा हैं उसे वैसा ही कहा जा सकता हैं । इस संसार को किसी भी वस्तु से उसकी तुलना नहीं की जा सकती । परमात्मा को संबोधित कर के कबीर ने कहा था ---

जस तूं तस तोहि कोइ न जान

लोग कहै सब आनहि आन ।।

क. ग्रं. पृ. 103 §47§

सुन्दरदास भी प्राय: इन्हीं शब्दो में कहते हैं ---

जोइ कहूँ सोइ, है नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसे को तैसे ।

ज्ञान समुद्र

इस तरह यह देखा गया है कि सूक्ष्म ब्रह्म भावना का विस्तारपूर्ण उल्लेख कुछ ही संतों में पाया जाता हैं । नानक ने भी ब्रह्म की सूक्ष्म भावना का वर्णन करते हुए एक जगह कहा है ---

ताकी अगला कथिया न जाइ

जो को कहै पिछै पछिताई ।

§जप जी 35§

इसका अर्थ है कि उस ब्रह्म का वर्णन वह जैसा हैं वैसा हो ही नहीं सकता क्योंकि उसके वर्णन मे जो कुछ लिखा जाता हैं वह मिट सकता हैं अर्थात नाश्वान हैं, वह अविनाशी का वर्णन कैसे कर सकता हैं । कबीर आदि संतों ने ब्रह्म को एक कहना भी उचित नहीं समझते । कबीर के अनुसार "कोई वस्तु अनेक के ही विरूद्ध "एक" हो सकती है । परन्तु ब्रह्म तो केवल है ।"

अब मै जाणि बौरे केवल राइ की कहाणी ।

क. ग्र. पृ. 143, 199§

वह एक कैसे हो सकता है, क्योंकि वह जैसा है वैसा जान सकता हैं । हम तो इतना ही कह सकते है कि केवल वही है और कोई है नहीं ।

यहाँ पर कबीर के विचार पूर्णत: इस्लामी एकेश्वरवाद से साम्य रखते हैं । इस्लामी एकेश्वरवाद के अनुसार जो कुछ है वही है, केवल परमात्मा ही है, सृष्टि के कण-कण में वही विद्यमान है, वह जैसा है वैसा है उसके जैसा या उसके बराबर कोई दूसरा नहीं है । कबीर का विचार भी यही है । उनके अनुसार

वो है तैसा वोही जानै, वोहि आहि आहि नहि आनै ।।

§ क. ग्र. पृ. 247§

दादू का मत भी कुछ इसी प्रकार का है । वह भी कहते हैं कि ब्रह्म सत्ता एक ही है भले ही वह अनेक दिखाई देता हो । "चर्म दृष्टि से अनेक दिखाई देता है, आत्म दृष्टि से एक, परन्तु साक्षात परिचय तो ब्रह्म दृष्टि से होता है, जो इन दोनो से परे है ।

चर्म दृष्टि देखे बहुत करि, आतम दृष्टि एक
ब्रह्म द्रष्टि परिचय भया §तब§ दादू बैठा देख ।

बानी §ज्ञान सागर§ पृ. 48

भीखा भी यही कहते है---

भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनन्त
एकै आतम सकल घट, यह गति जानहि संत ।

§सं. बा. सं. भाग-1 पृ. 213§

अर्थात् परमात्मा भाव और अभाव दोनों प्रणालियो से अवर्णनीय हैं, क्योंकि वह इन दोनों से परे है । इस तरह संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संतों का ब्रह्म निरूपण वैदिक एकेश्वर, अद्वैतवादी होते हुए भी सर्वात्मवाद, परात्परवाद के अधिक समीप हैं । अनेक स्थलों पर उसका स्वरूप विविध धर्मों की ब्रह्म भावनाओं से संवारा गया है ।

जीव या जीवात्मा :

यह समस्त सृष्टि परमात्मा का ही रूप हैं । जगत् के छोटे से छोटे कण में ब्रह्म का निवास हैं । संतों की विचारधारा पर तीन प्रकार की दार्शनिक विचार धाराओं का प्रभाव दिखाई देता हैं । वेदांत के पुराने मतों के नाम से यदि उनका निर्देश किया जाए तो उन्हे अद्वैतवाद, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते हैं । पहली विचार धारा को मानने वालो में कबीर का नाम प्रधान हैं । दादू, सुंदरदास, जगजीवनदास, भीखा और मलूक भी कबीर की तरह अद्वैतवाद का अनुगमन करते हैं । नानक और उनके अनुयायी भेदाभेदी हैं । शिवदयालजी और उनके अनुयायी विशिष्टाद्वैती हैं । कबीर आदि अद्वैती विचार धारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्म तत्व पूर्ण रूप से विद्यमान हैं । अंतर केवल इस बात का हैं कि जीव इस बात को नहीं जानता । उसे स्वयं के भीतर परमात्म तत्व का अनुभव तभी हो सकता है जब वह मन और बुद्धि के क्षेत्र से ऊपर उठ जाता हैं । जीव और ब्रह्म में पूर्ण अद्वैत भाव हैं । यही बात सुंदरदास भी इस तरह कहते हैं ---

दूर किया संदेह सब जीव ब्रह्म नहिं भिन्न"

सुन्दरदास, सं. वा. सं. पृ. 107.

जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण वह अपने आपको ब्रह्मेतर समझता है । आत्म तत्व को भूलकर वह पंच भूतों की ओर दृष्टि डालता हैं और उसी में अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्णता मानता है । यही उसका भ्रम हैं । जब जीव दृश्य आवरणो के भ्रम में न पडकर अपने अंतरतम में दृष्टि डालता हैं तब वह अपने सतत्व को पहचान जानता हैं । तब उसे अनुभव हो जाता हैं कि वह किस प्रकार भ्रम में था और उसका अस्तित्व क्या हैं । उसे यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि "मैं पूर्ण ब्रह्म केवल हूं ही नहीं बल्कि कभी उसके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ था ही नहीं । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण ब्रह्म हैं । पंच भौतिक जगत के बंधनो से मुक्त होने के लिए यही अपरोक्षानुभूति की आवश्यकता हैं ।

संत संप्रदाय के अद्वैती संतों ने इस सत्य को अनुभव किया था । कबीर ने इस संबंध मे अपने भाव बडी दृढता के साथ स्पष्ट किया हैं । वह पूर्ण ब्रह्म को एक मानते हैं उनके अनुसार उसके दो पक्ष नहीं हो सकते । आत्मा और परमात्मा की एकरूपता अद्वैतवाद का प्राण हैं । कबीर ने जीव और ब्रह्म दोनो को सदैव एक रूप कहा हैं । उन्होने जहां कहीं भी जीव का वर्णन किया हैं वह ब्रह्म निरूपण के ढंग पर ही अभिव्यक्त हुआ हैं ।

ना इहु मानुष ना इहु देव, ना इहु जती करावै सेवा

....

इहु मरते कौ जे कोरू रोवै । जो रोवै सोई पति खोवै ।

क. ग्र. पृ. 301.

यहां पर कबीर ने आत्मा का निरूपण बहुत कुछ गीता की शैली पर किया है और उसके साथ ब्रह्म की एकरूपता का भी वर्णन किया हैं । यह आत्म तत्व ही सारे संसार में व्याप्त हैं । उसी को लोग विश्वात्मा कहते हैं । आत्मा और विश्वात्मा मूलत: एक ही हैं, किन्तु शरीर बद्ध होने के कारण आत्मा विश्वात्मा से भिन्न प्रतीत होने लगती हैं । कबीर ने "कुम्भ" के रूपक से यही बात स्पष्ट की है ।

जल मे कुम्भ कुम्भ मे जल

बाहर भीतर पानी ।

वेदान्त को भी यही मत मान्य हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ईश्वर और जीव के संबंध को इस तरह प्रकट किया है --- ईश्वर अंश जीव अविनाशी (मानस)

"कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के भी दो स्वरूप माने है । इन दोनो स्वरूपों को हम ज्ञाता या ज्ञेय, द्रष्टा या दृश्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं । वे आत्मा को प्राप्ता और प्राप्तव्य दोनों ही मानते हैं ।"

(गो. त्रिगुणायत, कबीर की विचारधारा)

कबीर ने आत्मा या जीव के लिए कभी "प्राण" शब्द का प्रयोग भी किया हैं । वे कहते हैं ---

प्राण प्यण्ड को तजि चले
मुआ कहैं सब कोई ।।

क. ग्र. पृ. 32

कबीर ने आत्म तत्व का आकार वर्णन भी किया हैं । वह विरहिणी नारी, प्रियतमा, पतिव्रता स्त्री आदि रूपों मे प्रकट होते हुए भी निराकार निर्गुण ही है । वह निर्गुण सच्चिदानंद स्वरूप है । कबीर आत्मा को अमर, सब घट वासी और अद्वैत कहते हैं । कबीर को आत्मा के आनन्द स्वरूप और स्वयं प्रकाश होने में भी कोई संदेह नहीं हैं । यह प्रकाश स्वरूपी आत्मा ब्रम्हरन्ध्र में वृत्तियो को केन्द्रित करने पर देखी जा सकती हैं । अद्वैत वेदान्त के आधार भूत सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त आत्मा को प्रकाश रूप मानना भी हैं । उप निषदो में उसे बार-बार स्वयं प्रकाश रूप भी कहा हैं ।

जीव की एकता और अद्वैतता :

कबीर ने जीव को सदैव ही अद्वैत रूप माना हैं । वे स्पष्ट कहते हैं कि जो लोग द्वैतवाद मे विश्वास करते हैं, उन्हे नरक प्राप्त होता हैं और उनकी बुद्धि स्थूल हैं ।

क. ग्र. पृ. 105

संतों ने जीवन तत्व को सर्वव्यापी कहा हैं । माया के कारण जीव और ब्रहम की अद्वैतता को नहीं पहचान पाना यही भेद हैं । कबीर का स्पष्ट मत हैं कि सर्वत्र एक ही तत्व हैं । (क. ग्र. पृ. 105, पद 55) चाहे उसे हम आत्म तत्व कहें या ब्रहम तत्व । जीव का वर्णन इसी रूप में किया गया है ।

दोइ कहै तिनही को दो जग जिन नाहिन पहिचाना
कहै कबीर नरक दुई साधै, तिनकी मति है मोटी ।

क. ग्र. पृ. 105

जीव की संख्या के सबंध मे विविध दर्शनों में बडा मतभेद हैं । डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार "सांख्यवादी और विशिष्टाद्वैतवादी असंख्य जीवों में विश्वास करते हैं । दोनो में केवल इतना अंतर हैं कि सांख्यवादी उसे स्वतंत्र और अनादि कहते हैं और विशिष्ट द्वैतवादी उसे ब्रह्म का परिणाम मानते हैं ।"

(कबीर की विचारधारा गो. त्रिगुणायत)

अद्वैतवादी जीव की अनेकता में विश्वास नहीं करते । उनका दृढ मत हैं कि जीव एक और अद्वैत तत्व हैं । इस पर यह बात विचारणीय है कि "एक अद्वैत तत्व भिन्न भिन्न रूपों में कैसे दिखायी देता हैं ?" इस प्रश्न को सुलझाने के लिए कबीर ने प्रतिबिम्बवाद का सहारा लिया । वे स्पष्ट कहते हैं कि आत्मरस संसार मे उसी प्रकार अनेक रूपो में भासित होता हैं, जिस प्रकार जल में बिम्ब के विविध प्रतिबिम्ब दिखाई पडते हैं ।

ज्यों जल मे प्रतिबिम्ब त्यों सकल रामहि जानी जे"

क. ग्र. पृ. 56

इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा की संख्या के सबंध में कबीर अद्वैतवाद से पूर्ण सहमत है ।

जीव और ब्रह्म का सबंध :

संतो ने जीव को ब्रह्म का अंश माना हैं । कबीर ने घोषित किया हैं "कहु कबीर यहु राम को अहुँ जस कागद पर मिटै नंमसु"

क. ग्र. पृ. 301

अंशांशि सबंध :

संतों ने जीव और ब्रह्म को अंशांशि सबंध में स्वीकार किया हैं । शिवदयाल के अनुसार जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य परन्तु पूर्ण नहीं, परमात्मा अंशी है और जीवात्मा अंश ।

प्राणनाथ कहते हैं ---

अब कहूँ इसक बात, इसक सबदातीथ सांख्यात
ब्रह्म सृष्टि ब्रह्म एक अंग, ये सदा अनंद अतिरंग ।

ब्रम्ह बानी पृ. ।
{खोज रिपोर्ट}

अर्थात् सृष्टि अत्यन्त आनंदमय प्रेम स्वरूप परमात्मा का एक अंग मात्र है । जीवात्मा और परमात्मा मूल स्वरूप में आवश्यक हैं परन्तु विस्तार अथवा महत्ता में नहीं ।

डॉ. बड़थ्वाल ने अपनी पुस्तक "हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय" में जीवात्मा के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए संत बाबालाल के कथन का उल्लेख इस तरह किया हैं । दारा शिकोह के प्रश्न का उत्तर इस संबंध में देते हुए बाबालाल ने अपना मत स्पष्ट किया-- "जीवात्मा और परमात्मा मूल स्वरूप में एक समान हैं और जीवात्मा उसका एक अंश हैं । उनके बीच वहीं संबंध है जो बूंद और सिंधू में । जब बूंद सिंधू में मिल जाता है तो वह भी सिंधू हो जाता है ।

दारा शिकोह के पूछने पर कि जीवात्मा और परमात्मा में क्या भेद है ? उन्होने कहा जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं हैं । जीवात्मा को हर्ष-विवाद की अनुभूति इसलिए होती है कि वह पांच भौतिक शरीर के बंधन मे पड़ा है । परन्तु गंगाजल हमेशा गंगाजल रहेगा चाहे वह नदी में बहता हो या घड़े में भरा हो ।"

इस प्रकार बाबालाल ने भी अंशांशि भाव को ही अपनाया था । आत्मा और परमात्मा को एक कर दुविधा के निवारण का उपदेश नानक ने भी दिया है ---

आत्मा द्रवै रहै लिव लाई....
आत्मा परमातमा एको करै । अंतरि की दुबिधा अंतरि मरै ।

ग्रंथ पृ. 357

सिख संप्रदाय वाले भी "मुक्ति" को "निर्वाण" मानते हैं इससे यह स्पष्ट हैं कि अंत में वे आत्मा और परमात्मा के एक होने में विश्वास रखते हैं । जीवात्मा और परमात्मा में नानक भी अंशांशि सबंध मानते हैं । शिवदयाल और अन्य संतो ने अंश का अर्थ अंश नहीं बल्कि अंश तुल्य माना हैं । परमात्मा के सम्मुख जीव वैसा ही है जैसा समुद्र के सामने बूंद । जीवात्मा, परमात्मा के एक लघु से लघु अंश के बराबर है । जीवात्मा के सम्मुख परमात्मा कितना बडा है इसका वर्णन करना कठिन कार्य है । वह जीव का स्वामी और विधाता हैं । जीव परमात्मा न हो कर परमात्मा का है । प्राणनाथ के अनुसार इश्क जो सब संतों के लिए परमात्मा का ही दूसरा नाम है, अखंड,चिरंतन और नित्य है ।

इसक अखंड हमेशा नित्त"

प्रेम पहेली पृ. 5 (खोज रिपोर्ट)

परम तत्व ब्रह्म विभिन्न शक्तियों से समन्वित होकर अपने को अनन्त नाम रूपों में व्यक्त करता हैं । जिस शक्ति से इन नाम रूपों का एक साथ ज्ञान होता हैं उसको ईश्वर और जो शक्ति उनको एक एक करके जानती हैं उसे जीव कहते हैं । विशिष्टाद्वैतवादी जीव को ब्रह्म का शरीर मानते हैं । जीव और ब्रह्म दोनों चैतन है । ब्रह्म विभु हैं जीव अणु हैं । ब्रह्म और जीव में सजातीय और विजातीय भेद नहीं हैं, स्वगत भेद हैं । ब्रह्म पूर्ण और जीव खण्डित हैं । शंकराचार्य ने ब्रह्म जीव के सबंध

को अग्नि और स्फुलिंग के दृष्टान्त से व्यक्त किया हैं । उनका मत है जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि से निकल कर उसी में समाविष्ट हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्म से निकल कर उसी में समाविष्ट हो जाती हैं । इसी तरह जीव और ब्रह्म का सबंध अंशांशि भाव का है ।

<u>जीव और ब्रह्म का तादात्म्य :</u>

जीव और ब्रह्म का तादात्म्य तीन प्रकार का हो सकता है ।

1. भावात्मक 2. यौगिक 3. ज्ञानात्मक

1. भावात्मक :- आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य भावना के सहारे जीवन काल में भी संभव है और मरणोपरान्त भी । भक्त और सूफी दोनों प्रकार के साधक भावना प्रधान तादात्म्य में विश्वास रखते हैं । दोनो में थोडा सा अन्तर हैं । कबीर आदि संतों ने रहस्यवादी भावनात्मक उपासना के सहारे जीव और ब्रह्म के एकीकरण की बात स्पष्ट की है । इन संतो को भक्ति भावना रहस्य भावना में घुल मिल गयी हैं । कबीर में इस तरह का तादात्म्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता हैं । जीव स्वयं को परमात्मा की पत्नी, प्रेयसी, विरहिणी आदि रूपो में अनुभव करती हैं । वह स्वयं को परमात्मा से बिछुडी हुई अर्थात् देह के कारण उस से भिन्न समझती है और उससे एकाकार करना चाहती हैं । यही भावनात्मक तादात्म्य हैं ।

2. यौगिक तादात्म्य :

आत्मा का सगुण निर्गुण ब्रह्म से तादात्म्य योग द्वारा भी संभव है । इस यौगिक तादात्म्य का सबंध रहस्यवाद से ही है । यौगिक तादात्म्य को प्राप्त करने के लिए कबीर ने यौगिक साधना का वर्णन किया हैं ।

3. ज्ञानात्मक तादात्म्य :

आत्मा और परमात्मा में वास्तव में कोई मौलिक भेद नहीं हैं । जो भेद दिखाई देता है वह माया के कारण हैं । जब माया रूपी आवरण साधक नष्ट कर देता है तब उसे मुक्ति प्राप्त होती हैं । इसी मुक्ति को कबीर आदि संतों ने मोक्ष भी कहा हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य भावनात्मक, यौगिक और ज्ञानात्मक तादात्म्य से संभव हैं । परमात्मा और जीव का अंशांशि सबंध है । जीव परमात्मा का ही अंश हैं । जिस प्रकार समुद्र में की कुछ बूंदे भाप बनकर उसमें से उड जाने या कुछ और बूंदो के उस में गिर कर मिल जाने से कुछ और बूंदो के उसमे गिकर मिल जाने से कुछ अंतर नहीं आता उसी प्रकार परमात्मा में भी जीवात्माओ के वियुक्त या संयुक्त होने से कोई अंतर नहीं आता ।

दो वस्तुएँ केवलावस्था में एक होकर ही एक नहीं कहलाती एक समान होने से तथा एक में मिल जाने से भी एक कहलाती हैं। आत्मा परमात्मा से वियुक्त होने का कारण माया या भ्रम माना जाता हैं। प्राय: सभी धार्मिक दर्शनों में वियोग का यही कारण बतलाया जाता हैं। विशिष्टाद्वैतियों तथा भेदाभेदियों के लिए यह वास्तविक कारण है और इस संबंध में वह उनकी जिज्ञासा की शांति भी कर देता हैं। पर अद्वैतवादियों के अनुसार तो वियोग भी केवल एक व्यावहारिक सत्य हैं। परमार्थिक रूप में तो वियोग कभी हुआ ही नहीं था। इसलिए वियोग का यह कारण भी व्यावहारिक ही हो सकता है।

अर्थात् जीव और ब्रह्म पूर्ण रूप से एक ही हैं। दोनों अद्वैत है उन्हे भिन्न भिन्न समझना अद्वैतवादियों के सिद्धान्त के अनुसार मूर्खता हैं। कबीर आदि संतों ने भी अद्वैतवादी सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए आत्मा और परमात्मा को एकता को सिद्द करने का प्रयास किया हैं।

जगत :

सृष्टि जिज्ञासा :- अनादि काल से चिंतनशील मानव मस्तिष्क मेंसृष्टि-उत्पति संबंधी विविध जिज्ञासाएँ उठती रहती हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ऐसी जिज्ञासाओं और विचिकित्साओं की सुन्दर झांकी मिलती हैं। संतों में भी सृष्टि के प्रति जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही था। कबीर वैदिक ऋषियों की भांति ही तत्व चिंतक थे। अत: उनके मस्तिष्क में भी ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक था। कबीर की रचनाओ में अनेक स्थलों पर सृष्टि सबंधी जिज्ञासायें मिलती है।

कहो भइया अम्बर कासू लागा, कोई जानैगा जानन हार
अम्बर दीसे केता तेरा, कौन चतुर ऐसा चितरनहारा
जो तुम देखो तो यहु नाही, यहु पद आगम अगोचर माही
तीन हाथ एक अरधाई ऐसा अम्बर चीन्हो रे भाई
कहै कबीर जे अम्बर जाने ताही सूं मेरा मन माने।

क. ग्र. पृ. 133

तारों से जगमगाता हुआ सुन्दर नीला आकाश देख कर कबीर के मन में यह जिज्ञासा उठती है कि जो विधाता रूप चतुर चितेरे के निर्माण कौशल का प्रमाण है, वह कैसा होगा । वह जैसा दिखाई देता है, वैसा नहीं है । वह गम्य और गोचर होने पर भी अगम अगोचर हैं ।

संतों ने "जहं देखो तहं एकोएक" कह कर परमात्मा के सर्वत्र होने का गान किया हैं । जब सब कुछ परमात्मा ही है तब यह सृष्टि जो इतनी मनमोहक है उस में परमात्मा कैसे नहीं हो सकता । इस संबंध में संतो में तीन प्रकार की विचारधाराएँ पायी जाती हैं । कबीर आदि संत पूर्णाद्वैती तो विर्वतवाद के समर्थक हैं । विवर्तवाद वेदांत का वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा संसार को माया तथा ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता माना गया हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार दृश्य जगत् का मूल अधिष्ठान परब्रह्म ही हैं । पर ब्रह्म ही एक मात्र सत्य हैं जिसके उपर कोई नहीं । परन्तु जो कुछ दिखाई देता है वह सत्य नहीं है मिथ्या है । दादू ने निम्नलिखित पंक्तियो में जगत और ब्रह्म का वर्णन किया हैं । उनके अनुसार जो हम देख रहे है वह अगम अगोचर का ही रूप हैं ।

मन रे तू देखै सो नाही, है सो अगम अगोचर मांही
निसि अंधियारी कछु न सूझै, संसै सरप दिखावा
ऐसे अंध जगत नहिं जानै जीव जेवडी सावा ।।

सं. बा. सं. पृ. 100

इसी तरह सुंदरदास भी कहते हैं ---

मृतिका समाइ रही भाजन के रूप मांहि
मृतिका को नाम मिटि भाजन ही गह्यौ है
सुन्दरकहत यह योंही करि जानौ
ब्रम्ह ही जगत होय ब्रम्ह दूरि रह्यौ है ।

सुंदर विलास. 34

ब्रह्म ही की लीला के कारण यह जगत् माया दिखाता है । इस प्रकार जगत् विशिष्ट अर्थ में सत्य और मिथ्या दोनो हैं ।

जगत सत्ता का स्वरूप :

जगत सत्ता के संबंध में दार्शनिक के विविध मत प्रचलित हैं । तुलसी के शब्दोम में "कोउ कहे सत्य झूठ कह कोउ, युगल प्रबल कर माने" ।
कबीर सृष्टि को मिथ्या कहते हैं । उन्होने संसार को नश्वर, मिथ्या एवं स्वप्नवत कहा हैं ।

समझ विचार जीव जब देखा, यह संसार सुपिन कर लेखा ।

क. ग्र. पृ. 233

बौद्धों और वेदान्तियों ने भी संसार को मिथ्या और स्वप्नवत कहा हैं । शंकर के पूर्व जो आचार्य थे उन्होने बौद्धों के स्वप्नवाद को अधिक मान्यता दी । शंकर ने मायावाद को ब्रह्म के दृष्टिकोण से स्पष्ट किया हैं ।

कबीर पूर्ण आस्तिक थे । वे सब कुछ ब्रह्म मय ही मानते थे ।
इसी ब्रह्म तत्व को वे नाम रूप जगत् का आधार मानते हैं ।
वे स्पष्ट कहते हैं -- जो तुम देखो सो यह नाही
यह पद अगम अगोचर माहीं ।

क. ग्र. पृ. 132

अर्थात् जो यह नाम रूपात्मक संसार दिखाई पडता हैं वह सही नहीं हैं । इस्लामी सिद्धान्त की भांति कबीर का मत भी यही है कि सृष्टि के पूर्व में जब कुछ न था उस समय भी निर्गुण तत्व विद्यमान था किन्तु उसका वर्णन नहीं हो सकता । क्योंकि वह नाम रूप के बंधनों में नहीं बांधा जा सकता ।

एक दूसरे अर्थ मे जगत् सत्य भी ह । जब तक अज्ञान के बादल नहीं छटते तब तक जगत हमारे लिए वास्तविक सत्य है ।

जगत व्यावहारिक रूप से उसे सत्य ही लगता हैं । उस व्यावहारिक सत्यता को समझने के लिए अद्वैतियो ने माया के सिद्धान्त को स्वीकारा है । सृष्टि विज्ञान का दार्शनिक दृष्टि से सर्वोत्तम विवेचन सांख्य शास्त्र में हुआ हैं । सांख्य दर्शन द्वैत भाव को लेकर चला । तीन,पांच,पच्चीस ऐसी संख्याओं का उनकी कविताओं में प्रयोग हुआ हैं । इन संख्याओं का अभिप्राय सत् राजस तमस तीन गुणों, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पांच तत्वों और पच्चीस प्रकृतियों से है । वे जगत् को इन्ही तत्वो से बना हुआ समझते हैं पर केवल व्यवहार मात्र में वस्तुत: नहीं क्योंकि परमार्थत: तो जगत् है ही नहीं । सृष्टि क्रम का वर्णन करते हुए सुन्दरदास ने उसे मिथ्या और ब्रह्म जाल कहा हैं ।

कबीर भी सांख्य दर्शन से प्रभावित लगते हैं । उन्होने भी कहा है ---

पंच तत भी नहीं, नहि तन, नहि मन, नहि अहंकार ।
नहि सत, रज, तम नोति प्रकारा ।

क.ग्र.पृ. 100

एक स्थान पर विश्व का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं जब बिना धड के एक वृक्ष न म फूलता है, न फलता है, जिसको न शाखाएँ है, न पत्तियाँ फिर भी वह आठों दिशाओं में फैला हुआ हैं तो उनका अभिप्राय पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन पित अहंकार आदि से है जो विश्व में व्याप्त हैं ।

तरवर एक पेड बिन ठाडा, बिना फूला फल लागा
साखा पत्र कछू नहि वाके, अष्टगगन मुख बागा ।

क.ग्र. पृ. 143

सांख्यों ने पुरुष और प्रकृति दोनों को भिन्न तथा अनादि अनंत और नित्य माना हैं । यह बात संतों के अनुकूल न थी । शंकराचार्य की भांति कबीर आदि निर्गुणियों ने सांख्य सिद्धान्त का उपयोग अद्वैतवाद के ढंग से किया है । संतों ने प्रकृति और पुरुष को व्यावहारिक सत्य के रूप में ग्रहण किया और उनके संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप माना । संतों ने सृष्टि को ब्रह्म का पहला प्रणव अर्थात् शब्द ब्रह्म "ॐ" माना जिसमें पुरुष और प्रकृति, व्यक्त और अव्यक्त, ईश्वर और माया दोनों समाहित है

प्रणव का अव्यक्त स्वरूप बिंदु हैं और व्यक्त स्वरूप नाद । नाद या इच्छा या मौज का प्रकंपन ही एक बिन्दु को अनेक में परिणत कर विश्व सृजन का कारण होता है । संतों ने भी इसी नाद और बिंदु के सिद्धान्त को ग्रहण किया । कबीर ने कहा है ---

ॐ कारे षग उपजै बीकारे जग जाय ।

(क. ग्र. पृ. 156)

संतों ने यह बताने का प्रयास नहीं किया कि तत्वों की उत्पति किस क्रम से हुई है । सृष्टि का तत्वतः विकास देखा जाय तो ब्रह्म से प्रणव, प्रणव से महातत्व, वहां से मन, अहंकार आदि विवर्त होते जाते हैं । प्रत्येक नीचे आने पर माया के बंधनों में जकड़ता जाता हैं । माया के बधंनों को त्याग कर झूठ में छिपे हुए सत्य का अनुभव करना ही संतों का परम उद्देश्य हैं । अनुभव की इस ऊंचाई तक पहुंचने पर व्यक्त जगत का महत्व विलीन हो जाता है, साधक को वह एक स्वप्न की भांति प्रतीत होने लगता हैं । संसार की अस्थिरता का उसे पता चल जाता हैं । इस तरह धीरे-धीरे आदर्शवादी उच्च शिखर पर पहुंच जाता है जहां सब कुछ ब्रह्म ही है ।

संतों के अनुसार विभु की लीलामयी इच्छा ही सृष्टि का मूल कारण हैं और माया का सूक्ष्मतम रूप हैं । विशिष्टाद्वैती जगत के उपादान को परमात्मा से भिन्न मानते हैं । माया को सृष्टि का मूल बीज मानते हैं जिस के कारण नाना प्रकार की सृष्टि का निर्माण होता है पर वह नष्ट नहीं होती क्योंकि वह नित्य है, ब्रह्म का ही रूप हैं । बाबालाल के अनुसार "कर्ता और प्रकृति मात्रा मे अंतर हैं, दोनो नित्य हैं । प्रकृति से सृष्टि का विकास बिना किसी कारण के, बिना कर्ता के हस्तक्षेप के नहीं हो सकता ।"

इस बात से यह स्पष्ट है कि कर्ता माया से भिन्न है और उसको सूक्ष्म से स्थूल मे बदल देने का कारण है । इस प्रकार निर्गुण संत संप्रदाय में जगत के प्रति तीन प्रकार के दार्शनिक मत दिखाई देते है जैसे अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत ।

सभी संत यह मानते हैं कि परमशक्तिशाली परमात्मा इस जगत का कर्ता-धर्ता संहर्ता हैं । समस्त सृष्टि उसी से उदय होकर उसी में समा जाती हैं । वह सब में व्याप्त है । सृष्टि का सृजन परमात्मा की इच्छा या मौज से होता हैं । आत्मा-परमात्मा और जगत् का सबंध कबीर ने कुछ इस तरह किया है ---

साधो सतगुरू अलख लखाया, आप आप दर्शाया
बीज मध्ये ज्यौं वृच्छा दर से, वृच्छा मध्ये छाया
परमात्मा मे आतम दर से, आतम मध्ये माया ।

अद्वैतवादियों ने माया को भ्रम कहा हैं जिसका अस्तित्व नहीं परन्तु भेदाभेदी उसका अस्तित्व मानते हैं । विशिष्टाद्वैती को सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है क्योंकि उनके अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु में परमात्मा हैं । कबीर की विचारधारा शंकर के वेदान्त के अनुकूल है । वे इस जगत् को सेमर के फूल के समान मानते हैं । सेमर के फूल के समान जगत् सत् होते हुए भी सारहीन है । इन्द्रियाँ विषयों का आरोप करके उसे सत्य और आकर्षक समझते हैं ।

यह ऐसा संसार है, जैसे सेंबल फूल
दिन दस के त्योहार को,झूठे रंगि न भूल ।

क. ग्र. 15

अर्थात् उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सृष्टि संबंधी जिज्ञासा आध्यात्मिक चिंतन का मूल है । संतों में यह जिज्ञासा अत्यन्त तीव्र थी । यही जिज्ञासा के कारण साधक के मन में जगत, ब्रह्म और सृष्टि के सबंध में अनेक प्रश्न उठते हैं । इन्ही प्रश्नों का समाधान और ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा, चिंतन, मनन, मानव को दर्शन के प्रति प्रेरित करती हैं । इस सत्य तक पहुंचते हुए जीव स्वयं को ब्रह्म के समीप पाता हैं ।

कबीर की दर्शन पद्धति :

कबीर की आध्यत्मिक भावना ने उन्हे दार्शनिक बना दिया । कबीर का दर्शन स्वानुभूतिमूलक और सत्य की अभिव्यक्ति हैं । कबीर पर अनेक दर्शनो का प्रभाव पड़ा है । कबीर ने सभी दर्शनों के कुछ न कुछ तत्वों को लेकर एक मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया हैं । फिर भी उन पर अद्वैत वेदान्त का अधिक प्रभाव नजर आता हैं । भारत में अठारह प्रकार के अद्वैतवादों की चर्चा विद्वानों ने की है परन्तु इन में से तीन प्रमुख हैं ।

शब्दाद्वैत, विज्ञानद्वैत, सत्ताद्वैत ।

शब्दाद्वैत अत्यन्त प्राचीन मत हैं । वेदों में इसका प्रतिपादन किया गया हैं। इस मत के अनुसार संसार की सृष्टि शब्द ब्रह्म से हुई है इसका वाचक ॐ है । कबीर ने भी शब्द ब्रह्म को महत्व दिया हैं । विज्ञानद्वैतवाद बुध्द का मत हैं । महायान संप्रदाय के प्रवर्तक नागार्जुन ने इस पर गंभीरता से विचार किया हैं । सत्ताद्वैत का संबंध वेदान्त से हैं । इसके तीन स्वरूप अत्यन्त प्रचलित हैं । केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुध्दाद्वैत । शुद्धाद्वैत से कबीर प्रभावित नहीं हो सकते क्योंकि यह कबीर के पश्चात वल्लभाचार्य का मत हैं । कबीर का झुकाव अधिकतर केवलाद्वैत की ओर रहा हैं । कबीर द्वैतवाद मे विश्वास नहीं रखते थे । वे आत्मा और ब्रह्म को एक तत्व मानते हैं । कबीर माया को ब्रह्म का ही परिणाम मानते है । कबीर सर्वत्र सृष्टि को सवप्नवत कहा हैं । यह स्वप्नवाद मायावादियों का मत हैं । मायावादी जीव और ब्रह्म में मायागत भेद मानते हैं वास्तविक नहीं ।

कबीर को आत्मवाद पूर्ण रूप से मान्य था । वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता और कर्म फलदाता और सर्वान्तर्यामी मानते हैं । कबीर ब्रह्म और जीव में अंशांशि भाव को स्वीकार करते हैं किन्तु वे जीव के अणुत्व को नहीं मानते । उनका जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध अद्वैती हैं ।

कबीर को अद्वैत वेदान्त में वर्णित ब्रह्म का अव्यक्त और निर्गुण स्वरूप मान्य है ।

आत्मा परमात्मा को वेदान्त की तरह अभिन्न मानते हैं । जीव और ब्रह्म का सबंध उन्हे अंशांशि भाव से स्वीकार हैं । वेदान्तियों की भांति वे आत्मा को स्वयं प्रकाश रूप मानते हैं । कबीर की दृष्टि में जगत् मिथ्या और स्वप्न की तरह है । जगत की उत्पत्ति का मूल कारण वे ब्रह्म को मानते हैं । कबीर की मुक्ति सबंधी धारणा पूर्ण अद्वैती हैं । कबीर प्रतिबिम्बवाद, विवर्तवाद को अपनाते हुए सृष्टि, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर को अद्वैतवाद मान्य था । परन्तु उस मह बौद्धों के स्वप्नवाद और नाथों के शून्यवाद से प्रभावित है । इस प्रकार कबीर का दर्शन विविध दर्शनों से प्रभावित हैं । उनका अद्वैतवाद शंकर मत से अधिक साम्य रखते हुए भी नवीन और मौलिक है । डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार "हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के दर्शन संबंधी मौलिक सिद्धान्त संभवत: कोई कवि प्रस्तुत नहीं कर सका हैं ।"

कबीर की विचारधारा -गो. त्रिगुणायत.

द्वितीय - अध्याय

1. निर्गुण मत मे अवतारवाद का सूक्ष्म प्रवेश एवं रूपान्तरण की प्रक्रिया

1. निर्गुण और सगुण भक्ति के तत्वो मे समानता

   I. नाम तत्व - ॐ, राम, कृष्ण, मुरारी, गोविन्द, नरसिंह, हरि, मोहन, मनमोहन, केशव, विष्णु, नारायण, रघुनाथ, रघुराई ।

   II. रूप तत्व

   III. मानवीकरण

2. दिव्य रूपता
3. रस रूपता
4. सगुण भावना का मनोवैज्ञानिक आधार
5. सगुण भावना का दार्शनिक आधार

निर्गुण मत मे अवतारवाद का सूक्ष्म प्रवेश एवं रूपान्तरण की प्रक्रिया

हिन्दी का संत साहित्य भारतीय धर्म साधना के उन सारे पक्षों का सार है जिन में शास्त्रीय मनीषा और मुक्त जन भावना की पुकार एक साथ सुनाई देती हैं। संत साहित्य के अंतर्गत सिद्धों का अक्खडपन, योगियों की ज्ञानमुद्रा, सूफियों की मस्ती और वैष्णवों की प्रपत्ति भावना का विचित्र मिश्रण हैं। संत काव्य में सगुणवाद के तत्वों का समावेश भी इसी सम्मिश्रण का एकपक्ष हैं।

वस्तुत: निर्गुणवाद और सगुणवाद संत मत के दो नेत्र है जिन में से किसी एक को भी छोडा जाय तो संत काव्य अधूरा अर्थात् एकांगी रह जाता हैं। इसी दृष्टि से निर्गुनियां संतों की शब्दावली में सगुणवाद के यत्र-तत्र शब्द विद्यमान हैं जो विशिष्ट महत्व रखते हैं। अन्य धार्मिक स्त्रोतों से पर्याप्त सामग्री ग्रहण करते हुए भी इन संत कवियों ने वैष्णव भक्तों के अनेक तत्व अपनाये जिनके व्यक्तित्व का प्रत्येक पक्ष सगुणवाद के तत्वों से रंगा हुआ हैं। यद्यपि उन में मूर्ति पूजा, अवतारवाद आदि का खंडन सगुणवाद का विरोध करती हैं।

बैस्नौ कोछ तरो भली ना साकत का बड गांव

....

साकत बांमन मतिमिले बैस्नौ मिलै चंडाल
अंकमाल दै भेटिए मानौ मिलै गोपाल।

मेरे संगी दोइ जणा एक बैस्नौ इक राम।

क.ग्र. पृ. 4।

उपर्युक्त निर्देश का अर्थ इतना ही है कि कबीर तथा अन्य संत कवियो में सगुणवाद के मूल तत्वों के प्रति आत्मीयता का भाव था जो उनकी साधना पद्धति की विभिन्नता के होते हुए भी यत्र-तत्र उनके शब्दो में अभिव्यक्त हुआ हैं।

कबीर आदि संतों में सगुण भक्ति के अनेक तत्व पहले से ही विद्यमान थे। यह सच है कि वे उन तत्वों का प्रयोग एक सगुणवादी भक्त की तरह नहीं किये परन्तु नाम स्मरण, रूप का बखान, प्रकृति के माध्यम से परमात्मा का मानवीकरण, उसके गुणों का वर्णन, उसकी दिव्यरूपता रस रूपता की अभिव्यक्ति ठीक एक सगुणवादी भक्त की तरह प्रतीत होती हैं। निर्गुणी संतो ने जिस नाम स्मरण पर अधिक बल दिया है वह निश्चय ही असीम, अनन्त परमात्मा के लिए है पर यही नाम आगे चल कर अवतार के रूप में ग्रहण किये गये हैं। जिन नामों का प्रयोग निर्गुणीयों ने ब्रह्म के लिए किया था वही राम, कृष्ण, गोपाल आदि अवतारों के नाम रखे गये हैं। संतों ने स्पष्ट रूप से किसी व्यक्तित्व का चित्र प्रस्तुत नहीं किया। उनका ब्रह्म अस्पष्ट रेखा चित्रों के माध्यम से हमारे सामने आया हैं। यही कारण है कि वे उसे सगुण साकार के रूप में ग्रहण नहीं कर सके। उन्होने जिस परमात्मा के कल्पित रूप से प्रेम किया वही प्रिय, प्रियतम परमात्मा सगुणवाद तक आते-आते एक आकार एक रूप ले कर अपने नाम के साथ पूजा जाने लगा। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सगुणवाद के बहुत से तत्व निर्गुणवाद से लिये गये है पर वह बहुत विकसित रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इसी तरह नाम तत्व, रूप तत्व, गुणों का वर्णन, प्रिय के प्रति एक निष्ठा, प्रेम ऐसे कई तत्व हैं जो सगुण भक्तों से साम्य रखते हैं।

नाम तत्व :

"म्ना" धातु मे "मनिन" प्रत्यय द्वारा निपातन से नामन" शब्द बना हैं जिसका कर्ता एक वचन में "नाम" रूप होता हैं। इसका अर्थ हैं आख्या, अभिधानम नामधेयम्।

म्नाऽभ्यासे + मनिन प्रत्ययेन निपातात--म्ना अभ्यासे

§भ्वा. 929 §

धातु से नामन सीमन व्योमन लोमन पाप्मन ध्यामन § 3 सू. 4।590§ सूत्र द्वारा नाम शब्द का निपातन किया गया हैं अर्थात् म्नायतेऽने नेति नामसंज्ञा मलोप अथवा नाभाव का अंत सूत्र से निपातन तथा मनिन प्रत्यय करने पर नाम शब्द की सिद्धि होती हैं ।

-- शब्दकल्पद्रुम §द्वितीय खण्ड§ पृ. 86।

नाम और नामी का घनिष्ट संबंध है । किसी का नाम स्मरण करते ही उसका स्वरूप नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता हैं । नाम का प्रचलन आरंभिक युग में संभवत: पहचान के लिए हुआ होगा । किसी वस्तु अथवा व्यक्ति का सांगोपांग वर्णन करते हुए उसका परिचय कराने की अपेक्षा उसको नाम विशेष से संबोधित करने मात्र से कार्य साधन होता देख समाज ने नामकरण की उपयोगिता को स्वीकार किया होगा ।

ऐसा भी अनुमान है कि वस्तु, स्थान या व्यक्ति की किन्ही विशेषताओं को आधार बनाकर उसका नाम करण किया गया होगा जिससे नामस्मरण मात्र से नामी का वास्तविक बोध होने में कठिनाई न हो । इस प्रकार गुण और नाम का अभिन्न संबंध है । ईश्वर अनन्त गुणों का आगार है अत: §हरि अनन्त, हरिकथा अनन्ता" के अनुसार ईश्वर के अनन्त नाम हैं । मानव ने साधना की सुविधा की दृष्टि में रखकर ईश्वर को कतिपय विशिष्ट नामों से संबोधित किया हैं ।

अमर्त्य, अविनाशी परमात्मा के नामों का स्मरण एवं जप वैदिक ऋषियों को इष्ट हैं ।

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनाम हे ।

§ऋ 8।।   §

कल्याण (भक्ति अंक) जनवरी 1958 पृ. 36

वैदिक युग में अनेक देवताओं की स्तुति का विधान था । जैसे -- अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण ....

जो लोग देवताओं की अनेकता नहीं मानते थे वे इस का अर्थ पर ब्रह्म परमात्मा के लिए लगाते थे । संत जन सार ग्राही थे । उनके लिए राम, अल्लाह और विश्वभंर में केवल शाब्दिक अन्तर है जहां तक तात्त्विकता का संबंध है तीनों नाम एक ही हैं । संतों ने परम्परा से प्राप्त तथा प्रचलित ईश्वर के सभी नामों को अपनी वाणी द्वारा स्मरण किया है जैसे ऊँ, राम, हरि, कृष्ण, गोविन्द, गोपाल, रघुराई, मुरारि आदि । महात्मा कबीर ने भी इन नामों का स्मरण प्रचुर मात्रा में किया हैं ।

ऊँ :- ऊँ शब्द वैदिक साहित्य में बहुलता से प्रयुक्त हुआ हैं । संतो ने भी ऊँ को ही जगत् का मूल कारण माना हैं । "इसी से संसार का सृजन होता हैं ।"

ऊँ कारे जग ऊपजे, विकारे जग जाई ।

क. ग्र. पृ. 126

ऊँ को जानने वाला अमरता को प्राप्त कर लेता हैं । संत कबीर दास कहते हैं -- "मैं उसको नहीं मानता जो लिख कर मिटा दिया जाता हैं (क्योंकि वह नश्वर हैं) सांसारिक ज्ञान प्राप्त करने वाले मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं और उनका ज्ञान लुप्त हो जाता हैं, परन्तु ऊँ को जानने वाला अविनाशी ईश्वर से युक्त हो कर अमर हो जाता हैं ।

ओंअंकार आदि मै जाना । लिखि और मेटै ताहि न माना
लखै जौ कोई । सोई लखि मेट्या न कोई ।।

क. ग्र. पृ. 310

राम :- ॐ के अनन्तर "राम" नाम संत वाणियों में विशेषता के साथ व्यवहृत हुआ हैं । संतों ने "राम" को परब्रह्म परमात्मापरक रूप में ग्रहण किया हैं ।

अविगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठाम
बहु विचार करि देखिया, कोई न सारिख राम

क.ग्र. पृ. 241

कबीरदास ने कहा है कि उनके राम राजा दशरथ के पुत्र राम नहीं हैं । वह तो सर्वव्यापी हैं, दशरथि राम को उन्होंने मान्यता नहीं दी ।

ना जसरथ घरि औतारि आवा--

क.ग्र. पृ. 243

राम नाम के अंतर्ग गुह्य अर्थ को कबीर ने उद्भासित किया है । राम सब जीवों में चल,अचल मे अंतर्यामी रूप से व्याप्त है । उन्होंने दिखाने के लिए राम नाम रटने को महत्व नहीं दिया । उनकी जिज्ञासा राम नाम का मर्म जानने की हैं । वे राम नाम को महिमा को तुलसीदास की ही भांति अनुभव करना चाहते थे, उस से परिचित होना चाहते थे । "राम" नाम को महिमा का गुणगान करते हुए कबीर थकते नहीं थे ।

है कोई रांम नांम बतावै, वस्तु अगोचर मोहि लखावै ।
राम नाम सब कोई बखाने, राम नाम का मरम न जाने
ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तौ सुख पावै
कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिना मरम को पावै ।

क.ग्र. पृ. 162 {218}

उनकी नामोपासना अंतर्जगत् से संबंधित हैं । सच्ची अनुभूति के अभाव में केवल जिव्हा से नामोच्चारण करने से मानसिक शुद्धि नहीं हो सकती ।

जब तक नाम से संबंधित नामी की महिमा को अनुभव नहीं करते तब तक नाम जपने से लाभ नहीं हैं ।

संतों की राम नाम में वही आस्था है जो एक पतिव्रता की अपने पति में होती हैं । संतों ने राम नाम में अपनी अनन्य भावना को पति-पत्नी, प्रिय-प्रेयसी, पिता-पुत्र के संबंध में प्रकट किया हैं । राम नाम के प्रति संतों की अनन्यता चातक तथा स्वाती के जल के माध्यम से भी अभिव्यंजित हुई जिस प्रकार मछली के जीवन के लिए जल आवश्यक है उसी प्रकार जीव के लिए राम नाम जीवनी सदृश हैं । इससे पृथक होकर जीवित रहना असंभव है ।

नाम स्मरण करते हुए भक्त भगवान में तल्लीन हो जाता हैं । उसकी भावना इतनी गहन हो जाती है कि वह स्वयं नामी में लीन हो जाता है । कबीर नाम स्मरण के द्वारा राम में अपने आप को खो चुके हैं । उन्होंने ऐसा अनुभव किया है कि वे स्वयं राममय हो गये । द्वैत के समाप्त होने पर भक्त और भगवान का अंतर समाप्त हो जाता हैं । ऐसी ही अवस्था कबीर को भी है, वे कहते हैं ---
मैं स्वयं राम हो गया हूं, अतः किसी अन्य ‹राम› के सम्मुख नतमस्तक होने की उन्हे आवश्यकता नहीं हैं ।

मेरा मन सुमिरे राम कूँ, मेरा मन राम हि आहि
अब मन रामहि है रह्या, सीस नवावौ काहि ।। ‹।8›

क.ग्र. पृ. 5

नाम नामी से संयोग कराने का साधन मात्र हैं । नाम स्मरण के द्वारा भक्त नामी के साथ अपना संबंध जोड़ता हैं । नामी से मिलाने के लिए नाम स्मरण जितना सरल मार्ग है उतना कठिन भी हैं । जो कबीर जन साधारण को राम नाम स्मरण का उपदेश देते हैं वही यह घोषणा भी करते हैं कि नाम स्मरण करना "सूली ऊपरी नट विधा" के समान कठिन हैं ।

<u>हरि :</u> संतों की निर्गुण भक्ति वैष्णव भक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं हैं । संतों ने विष्णु के विविध अवतारपरक नामों को अपनाया हैं । इन में "हरि" नाम का प्रयोग संत वाणियों में व्यापकता के साथ हुआ हैं ।

कबीर "हरि" का प्रयोग ईश्वरवाचक नाम के रूप में करते हैं ।

> षीर रूप हरि नांव है, नीर आन व्यौहार ।
> हंस रूप कोइ साध है, तत का जानणहार । §सारग्राही कौ अंग§
>
> क. ग्र. पृ. 54

परन्तु कबीर जब तत्व का विचार करते हैं तो वे राम नाम का आश्रय लेते दिखाई देते हैं । साथ ही ब्रह्मा तथा महेश के साक्षी भी देते चलते हैं ।

> कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्मा महेस
> राम नांव तत सार है, सब काहू उपदेस ।।

इसके अतिरिक्त जो अनन्यता राम नाम के प्रति हैं वह अन्य नामों के प्रति नहीं हैं । इससे यह स्पष्ट है कि "राम" नाम कबीर को मंत्र के रूप में प्राप्त हुआ हैं जब कि अन्य नाम परंपरा से मिले थे ।

कृष्ण :- कृष्ण का अर्थ है जो सारे पापों का कर्षण करते हैं । जिस प्रकार संत जनों ने दशरथि राम को मान्यता देने की अपेक्षा परब्रह्म राम को अपनाया उसी तरह उन्होंने कृष्ण की भक्ति के स्थान पर सच्चिदानन्द परब्रह्म कृष्ण की उपासना का उपदेश दिया ।

> लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौ धूं काकौ रे
> ....
> अविनासी अजै नहिं बिनसै, संत सुजस कहौ ताकौ रे ।
>
> §पद-48§
>
> क. ग्र. पृ. 103

राम तथा हरि की तुलना में कृष्ण नाम का प्रयोग कम है । ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के मन में जो आस्था तथा गौरव राम नाम के प्रति था वह किसी अन्य को नहीं ।

गोविन्द, गोपाल : कृष्ण की अपेक्षा गोविन्द और गोपाल नामों को संतों ने अधिक अपनाया हैं। परन्तु यह नाम भी गोकुलवासी या वृन्दावनविहारी न हो कर परब्रह्म परमेश्वर के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कबीर ने गोविन्द नाम का स्मरण अनेकानेक बार किया हैं।

मुरारि : यह नाम गोपाल और गोविन्द की अपेक्षा कम व्यवहृत हुआ है। कबीर ने इसका स्मरण साखी और पदों में किया हैं।

मोहन-मनमोहन -- कबीर ने इनका प्रयोग विशेषण के रूप में किया है।

विष्णु-नारायण - कबीर की जिव्हा पर विष्णु नेत्रों में नारायण और हृदय में गोविन्द का निवास हैं। कबीर नारायण की उपासना का उपदेश देते हैं।

ताथै सेविये नाराइणा प्रभु मेरौ दीन दया करणा।

(पद-248)

क.ग्र.पृ. 172

केशव :- इस नाम का स्मरण कबीर ने बडी तन्मयता के साथ किया हैं।

केसौ कहि कहि कूकिये, ना सोइयै असरार
रात दिवस के कूकणै (मत) कबहूं लगै पुकार

क.ग्र. पृ. 6

कबीर कहते हैं कि केशव कहकर निरंतर स्मरण करने से आत्मा की पुकार परमात्मा तक अवश्य पहुंचेगी। ब्रह्म, साईं, भगवान-- ब्रह्म को संतों ने उपनिषदीय अर्थ में ग्रहण किया हैं। जिस प्रकार ऊँ ईश्वरवाचक हैं उसी भांति ब्रह्म भी।

नरहरि नर्सिंह : नृसिंहावतार के प्रति कबीर की प्रगाढ श्रद्धा हैं। उन्होने इस संदर्भ में पौराणिकता में अपनी आस्था व्यक्त की हैं। प्रल्हाद की नाम भक्ति से संबंधित अकेला पद कबीर पर वैष्णव प्रभाव को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

<u>रघुनाथ, रामचन्द्र, रघुराई</u> : इन नामों का संबंध दशरथि राम से हैं, परन्तु संतों ने इसका स्मरण व्यापक रूप से किया हैं । यह नाम कबीर ने अनेक बार प्रयोग किया हैं । पुरूष, पुरूषोत्तम--यद्यपि पुरूषोत्तम शब्द विशेषण के अर्थ में आया है पर यहां ईश्वरवाचक होकर व्यवहृत हुआ हैं । कबीर ने पुरूष का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में किया है । इन नामों के अतिरिक्त संतों ने साहब, हजरि, रहीम, करीम, अल्ला, खुदा, खालिक आदि नामों को ब्र , परमेश्वर आदि अर्थों मे ग्रहण किया हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर ने राम नाम के स्मरण का उपदेश सगुणवादियों की भांति दिया हैं । वे दूसरों को भी "राम" नाम स्मरण करने का आग्रह करते हैं । कबीर के अनुसार मानव मात्र के कल्याण के लिए राम नाम से बड़ा कोई मंत्र नहीं हैं । यहां पर उनके विचार सगुणवादी भक्त कवि तुलसीदास से पूर्णता समानता रखते हैं । राम नाम की महिमा बतलाते हुए कबीर कहते हैं कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, किसी के अपर कर्म की कितनी ही बड़ी गठरी क्यों न लदी हो, यदि वह हृदय से हरि का स्मरण करता हैं, उसकी शरण में जाता हैं तो उसके सभी पाप निःसन्देह धुल जाते हैं, कर्म की सारी श्रृंखलाएँ टूट जाती हैं ।

> कोटि करम फिल पलक मैं (जब) आया हरि की ओर ।
>
> क.ग्र. पृ. 6
>
> मन रे राम सुमिरि, राम सुमिरि, राम सुमिरि भाई ।
>
> ....
>
> जन कबीर गुरू प्रसादि, राम करि सनेही ।

इस पद में कबीर राम नाम की महिमा और उसका स्मरण करने का आग्रह करते हैं । वे कहते हैं प्रभु बड़ा कृपालु हैं वह नीच लोगों पर भी अपनी कृपा दृष्टि करके उन्हे क्षमा करता हैं यदि भक्त भगवान को सच्चे मन से याद करे तो वह उसे अवश्य ही क्षमा कर देता हैं ।

कबीर के इस पद की तुलना हम तुलसीदास के इस पद के साथ कर सकते हैं जिस में दोनों के विचार बहुत साम्य रखते हैं ।

तुलसी भी राम के अनन्य भक्त हैं वे कहते हैं मैं बडा पापी हूं, नीच हूं आप दयालु हैं, शील, शक्ति और सौन्दर्य की मूर्ति हैं यदि आप की कृपा मुझ पर हो गयी तो मैं इस भवसागर को पार कर सकता हूं । प्रभु की बड़ाई करते हुए तुलसी कहते है कि प्रभु ने गनिका, गज, अजामिल जैसे नीच लोगों का उद्धार किया हैं । हे प्रभु मैं तुम्हारी शरण में आया हूं मेरा भी उद्धार करो ।

मै हरि पतित पावन सुने

....

व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमन भने

और अधम अनेक तारे जात कापै गने

जानि नाम अजानि लीन्हे नरक जमपुर मने

दास तुलसी सरन आयो राखिये अपने ।

गो. तुलसीदास.

कबीर के अनुसार राम नाम का जप केवल जिव्हा का व्यापार मात्र नहीं है । उस में प्रेम भाव आवश्यक हैं । नाम स्मरण सच्चे हृदय से करना चाहिए । केवल राम राम रट लगाने से जीवन पर उसका प्रभाव नहीं होगा । उसका प्रभाव जब ही होगा जब हृदय उस नाम के मर्म को समझे । संत के लिए राम का नाम ही सब से बडा धन हैं । कबीर कहते हैं कि "राम" नाम का भंडार भक्तों के सामने खुला पड़ा हुआ हैं, जो जितना चाहे लूट सकता है जब मृत्यु आयेगी तब यही नाम हमारा उद्धार करेगा । यह राम नामकल्याण का एकमात्र साधन हैं । इसके बिना जीवन व्यर्थ हैं । कबीर ने राम नाम की महिमा का प्रतिपादन किया हैं ।

लूटि सकै तो लूटियो, राम नाम भंडार

काल कंठ तै गहेगा, रूंधै दसूं दुवार ।। §26§

क. ग्र. पृ. 34

इसी तरह का मत राम भक्त तुलसी का भी हैं जैसे ---

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे
घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे ।।
एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधि
ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे
भलो जो है पोच है, दाहिनो जो बाम रे
राम नाम ही सों अंत सब ही को काम रे ।।

विनय पत्रिका 66 गो. तुलसी .

संतों के अनुसार राम नाम परम तत्व तक पहुंचने का साधन हैं साध्य न
संतों की नाम भक्ति के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता हैं कि संतों ने
अपेक्षा नामी पर अधिक बल दिया हैं तथा नाम के माध्यम से नामी को पाने
प्रयास किया हैं । कबीर ने "राम" नाम को मंत्रवत स्मरण किया है और इस
के प्रति अपार प्रेम प्रकट किया है । संतों ने ईश्वर के अवतारी नामों को भी
है और हरि लीला का वर्णन करने में इन नामों का तन्मयता पूर्वक स्मरण किया
इससे उन पर भागवत भक्ति का प्रभाव झलकता हैं ।

संतों में दूसरा तत्व जो सगुणवादी भक्तों के समान हैं वह हैं रूप तत्व
यह सच हैं कि संतो की भक्ति में रूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं पर उस अरूप क
जो कबीरदास ने किया हैं वह बहुत कुछ ठोस आकार ग्रहण करने लगा था । क
ने परममात्मा के रूप का बखान इस तरह किया है कि निर्गुण निराकार रेखा
के माध्यम से हमारे सामने प्रस्तुत हुआ हैं ।

रूप तत्व : रूप शब्द "रूप" धातु में "अच" प्रत्यय लगाकर बना हैं ।

रूप + अच = स्वभाव, सौन्दर्यम् नाम कर्म, रूपरूप क्रियायाम्

{पृ. 1934}

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे
घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे ।।
एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधि
ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे
भलो जो है पोच है, दाहिनो जो बाम रे
राम नाम ही सों अंत सब ही को काम रे ।।

विनय पत्रिका 66 गो. तुलसी .

संतों के अनुसार राम नाम परम तत्व तक पहुंचने का साधन हैं साध्य नहीं । संतों की नाम भक्ति के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता हैं कि संतों ने नाम की अपेक्षा नामी पर अधिक बल दिया हैं तथा नाम के माध्यम से नामी को पाने का प्रयास किया हैं । कबीर ने "राम" नाम को मंत्रवत स्मरण किया है और इस नाम के प्रति अपार प्रेम प्रकट किया हैं । संतों ने ईश्वर के अवतारी नामों को भी अपनाया है और हरि लीला का वर्णन करने में इन नामों का तन्मयता पूर्वक स्मरण किया हैं । इससे उन पर भागवत भक्ति का प्रभाव झलकता हैं ।

संतों में दूसरा तत्व जो सगुणवादी भक्तों के समान हैं वह हैं रूप तत्व । यह सच हैं कि संतो की भक्ति में रूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं पर उस अरूप का वर्णन जो कबीरदास ने किया हैं वह बहुत कुछ ठोस आकार ग्रहण करने लगा था । कबीर ने परमात्मा के रूप का बखान इस तरह किया है कि निर्गुण निराकार रेखा चित्रों के माध्यम से हमारे सामने प्रस्तुत हुआ हैं ।

रूप तत्व : रूप शब्द "रूप" धातु में "अच" प्रत्यय लगाकर बना हैं ।

रूप + अच = स्वभाव, सौन्दर्यम् नाम कर्म, रूपरूप क्रियायाम्

(पृ. 1934)

धातु से अच् प्रत्यय द्वारा "रूप" शब्द सिद्ध होता हैं । अप्रत्यक्ष को बोध गम्य बनाने के लिए उसके रूप का चित्रण अपेक्षित हैं । अर्थात् जिस तरह नाम लेते ही नामी का स्मरण हो आता हैं उसी तरह रूप चित्रण भी मन को परमात्मा के प्रति आकर्षित करने का साधन हैं । प्राय: यह देखा गया हैं कि जिस वस्तु अथवा व्यक्ति से हृदय का अत्याधिक रागात्मक संबंध होता हैं उसका बार-बार स्मरण करने में आनन्द की अनुभूति होती हैं । कदाचित् इसी भावना ने मानव समाज में रूप चित्रण को परम्परा को जन्म दिया होगा । रूप चित्रण की परम्परा अति प्राचीन होने के साथ-साथ मानव संस्कृति के विकास से जुडी हुई हैं ।

भारतीय साहित्य के आदि स्त्रोत वेद हैं, जहां से रूपांकन की परम्परा का विकास देखा जा सकता हैं । रूप चित्रण की विभिन्न शैलियों का उल्लेख यहां अपेक्षित हैं । रूप के उपर्युक्त सभी प्रकार ससीमता के द्योतक है और पार्थिव जगत से संबंध रखते हैं । संतों ने परमात्मा की असीमता, अनन्ता और सर्वव्यापकता को माना हैं । इसी कारण वे एक रूप तथा आकार तक उसे सीमित करना नहीं चाहते थे क्योंकि जो अनन्त हैं, असीम हैं वह एक रूप, एक आकार में कैसे समा सकता हैं । उसकी उपमा सृष्टि के किसी अवयव से देना समीचीन नहीं हैं । ज्ञान, भक्ति,उपासना आदि मार्गों का अनुसरण करने वाले अपनी अपनी अनुभूति के अनुसार उसे व्यक्त करते हैं । परन्तु इस प्रकार सभी अभिव्यक्तियाँ शब्दों की सीमा में बंध रहने के कारण शब्दातीत परमेश्वर के स्वरूप को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं । इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता हैं कि परमात्मा वह नहीं हैं जिसे हम अपने नेत्रों से देखते हैं, अथवा वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं । परमात्मा वर्णातीत हैं । परन्तु ध्यान के माध्यम से उसकी अनुभूति की जा सकती हैं क्योंकि वह समस्त भूतों के अंत:करण में निवास करता हैं । संपूर्ण सृष्टि परमात्मा का ही रूप हैं । इसी तथ्य का कथन इस प्रकार भी हो सकता हैं कि संपूर्ण विश्व ईश्वर का ही विराट रूप हैं । संत कबीर ने भी अपनी वाणी से यही कहा ---

खालिक खलक खलक मै खालिक, सब घट रह्यौ समाई

क. ग्र. पृ. 104

उपनिषद के अनुसार ब्रह्म मन, वाणी, दृष्टि प्राण आदि सब से अगोचर हैं। संत कबीर का ब्रह्म निर्गुण होते हुए सब घट में व्याप्त हैं। प्रेम द्वारा जिसे अनुभव किया जा सकता हैं पर उसका वर्णन वाणी द्वारा असमर्थ हैं। कबीर का ब्रह्म अनुभवगम्य हैं, गूंगे के गुड की भांति हैं। इसलिए वे असमर्थ हो कर कहते हैं कि जो मैने देखा हैं उसे व्यक्त करने में असमर्थ हूं। ईश्वर के प्रति अनिर्वचनीयता का यही भाव अन्य संतों द्वारा भी व्यक्त किया गया हैं। कबीर कहते हैं कि गोविन्द निरंजन हैं उसे अंजन की आवश्यकता नहीं। अंजन किसी वस्तु को चमकाने का साधन हैं। प्रभु साधन नहीं साध्य हैं। कबीर ने जहां ब्रह्म को निरंजन, असीम, अनन्त कहा हैं वहीं उसे समस्त गुणों से पूर्ण, कृपालु, दयालु, तथा अनुपम सौन्दर्य का दाता भी कहा हैं। उसका रूप देखने के पश्चात भक्त स्वयं उस रूप में खो जाता हैं तथा उसका वर्णन करना उसके लिए असंभव हो जाता हैं। इस तरह वे कहते हैं ---

लाली देखौं लाल की जित देखु तित लाल
लाली देखन मै गयी मै भी हो गयी लाल।

कबीर ने ब्रह्म के बहुरंगी रूप को अस्पष्ट आकार के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया हैं। उनका ब्रम्ह एक अस्पष्ट रूप धारण करता हैं। उन्होने ब्रह्म को लौकिक प्रतीकों के सहारे व्यक्त करने का प्रयास किया हैं। इसी कारण वह परमात्मा को परम पुरूष, प्रिय, प्रेमी के रूप मे देखते हैं और उस के साथ अपना सानिध्य स्थापित करते हैं। स्त्री-पुरूष के रूप में आत्मा-परमात्मा के प्रेम की सफल अभिव्यक्ति कबीर ने की हैं। यही प्रेम आगे चलकर सगुण भक्तों ने भक्त और भगवान के मध्य स्थापित किया हैं जो अस्पष्ट रूप कबीर ने दिया था उस में रंग भरकर सगुणवादीयो ने उसे एक ठोस आकार देकर अवतार के रूप में ग्रहण किया।

<u>मानवीकरण</u> : परमात्मा के रूप चित्रण में मानवीकरण पद्धति का अनुसरण उपनिषद में किया गया हैं। मुण्डकोपनिषद के अनुसार अग्नि उसको मूर्धा अथवा सिर के समान है, सूर्य और चन्द्रमा उसके युगल नेत्र हैं, दिशाऍं श्रवणेन्द्रिय का कार्य करती हैं।

वेद वाग्शक्ति हैं, वायु प्राण के समान हैं, संपूर्ण विश्व ही उसका हृदय देश है तथा पृथ्वी अधोभाग अथवा पैर हैं । ऐसा हैं वह विश्ववपु परमात्मा ।

अग्निमूर्द्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यो

.... ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा । ।। 4 ।। ।। 26 ।।

मुण्डकोपनिषद: उपनिषद प्रकाश, पृ. 35

गीता में भी ईश्वर के इसी विराट रूप का वर्णन हैं । उपनिषद के अनुसार ब्रह्म अमर हैं, अनादि, अनन्त हैं । जब मानस-पटल से अज्ञान का मल दूर हो जाता हैं तब शुद्ध ज्ञान का प्रकाश हो जाता हैं तब वह परमात्मा प्रत्यक्ष होता हैं और उसका ध्यान किया जा सकता हैं ।

संतों द्वारा विराट पुरुष का चित्रण श्रीमदभागवत से अनुप्राणित प्रतीत होता हैं । कबीर के अनुसार आठ कुल के पर्वत उस परमात्मा के चरण की धूलि हैं, सातों समुद्र अंजन की भांति हैं, धरती और आकाश उसके अधर हैं और वह §परमात्मा§ अपने नख के उपर अनेक मेरु §पर्वत§ धारण कर सकता हैं ।

अष्ट कुली परबत जाकै.........

.... ताकी मुगधा कहै न सागी ।

क.ग्र. पृ. 201

उस विराट पुरुष के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं--कोटि सूर्य उसके प्रकाश के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं, कोटि ब्रम्हा उसकी वाणी के रूप में वेदोच्चारण कर रहे हैं । कोटि चन्द्रमा उसके घर के दीपक की भांति प्रकाशित हो रहे हैं ।

जाकै सूरजि कोटि करै

.... देहुं अभैपद मांगै दान । 340

क.ग्र. पृ. 203.

ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी हैं उसका कोई निर्दिष्ट रूप नहीं हैं परन्तु वह सभी भूतों तथा पदार्थों में तद्रूप होकर विद्यमान हैं। वह भीतर और बाहर सर्वत्र सर्वकाल में उपस्थित हैं। संतो ने ईश्वर का यही रूप अपनाया है। यही रूप उनके सिद्धान्त के अनुरूप था। स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता के पक्षपाती होने के कारण संतगण परमात्मा को आत्मा के भीतर तथा बाहर सर्वत्र देखते थे।

कबीर कहते हैं -- हे दयाल §परमात्मा§ तुम्हारे साथ मैं §आत्मा§ शयन करती हूं किन्तु तुम्हे अपने नेत्रो से देख नहीं सकती। यह दुख भला किस से कहूं। उस अरूप, अनाम, निर्गुण, निराकार प्रभु को गुण और नाम से अलंकृत करने की साध साधक के हृदय में व्याकुलता उत्पन्न करती हैं। प्रभु को उपमा स्वयं प्रभु ही हैं। परमात्म तत्त्व को स्थापित करने का प्रयास कबीर ने किया हैं। कबीर पूछते हैं --"राजा राम किस रंग के हैं ? वे स्वयं ही इस प्रश्न का समाधान उपस्थित करने का प्रयास करते हैं। जिस प्रकार पुष्प में परिमल विद्यमान हैं।

राजा राम कवन रंगै, जैसे परिमल पुहुप संगै। §टेक§

क.ग्र. पद 167 पृ. 143

संतों ने परमात्मा को वस्तुतः अन्तर्जगत् में देखने का प्रयास किया हैं। इस विषय में उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी हैं। संत कबीर अपने अनमोल प्रियतम को काया नगर में देखते हैं।

दिखलू मैं सजनवां, पियवा अनमोल के
दिखलू मैं कायानगर मे, काया पुरूषवा खोजि के।

§कबीर साहिब की शब्दावली भाग 3, पृ. 26§

कबीर कहते हैं जिस प्रकार नेत्रों के भीतर रहने वाली पुतली सब को देखती हैं परन्तु वह इतनी सूक्ष्म होती हैं कि सरलता से दिखाई नहीं देती उसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक में रम रहा हैं।

ज्यूं नैनू मै पुतली, त्यूं खालिक घट मांहि
मूरिख लोग न जागहि, बाहरि ढूंढण जाहि। 9/769

क.ग्र. पृ. 82

कबीर ने ईश्वर को व्यक्तित्व प्रदान करके अपने अंतरंग मित्र के रूप में भी चित्रित किया हैं । जिसके गले में लाल रंग का कपड़ा हैं, इस कपड़े का रंग इतना गहरा हैं कि संसार के सारे धोबी धोकर थक जाय, किन्तु उस कपड़े का रंग धूमिल नहीं हो सकता ।

एक ज दोसत हम किया जिस गलि लाल कबाइ
सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाइ ।

क.ग्र. पृ. 29

कबीर ने व्यक्तित्वधारी ईश्वर को अनेक रूपों में स्थापित किया हैं --- कहीं प्रियतम के रूप में तो कही पिता और कहीं माता, परमात्मा को इन व्यक्तिगत संबंधों द्वारा निरूपित करने के अतिरिक्त सर्व शक्तिशाली राजा के रूप में भी चित्रित किया हैं ।

<u>दिव्यरूपता :</u> उपनिषद में परमात्मा को दिव्य कहा गया हैं । संत काव्य में भी ईश्वर को प्रकाश स्वरूप चित्रित किया गया हैं जो परमात्मा पुष्प में गंध, तिल में तेल और में घी के समान सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं वही मोती की भांति चमकदार और सूर्य की भांति प्रकाशमान भी हैं । परन्तु उस प्रकाश को देखने का सामर्थ्य सर्व साधारण मनुष्य में नहीं हैं । कबीर इसी अद्भुत प्रकाश को पुरुषोत्तम की मूर्ति कहते हैं और उस की शोभा पर बलिहारी जाते हैं ।

अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी । 65

क.ग्र. पृ. 143

प्रकाश स्वरूप परमात्मा को स्थापित करने में मैं संतो ने प्रकाशमान अनेक साधनों की सहायता ली । ऐसे साधनों में मोती और हीरा भी हैं । कबीर के अनुसार ईश्वर वह मोती हैं जो सागर, स्वातिजल तथा सीप के अभाव मे शून्य शिखरगढ़ में मिलता हैं ।

रसरूपता : परमात्मा रस रूप भी हैं । "हरिरस" की तुलना में संसार के सारे रस फीके हैं । राम रूपी रसायन पीने में अत्यन्त मधुर हैं किन्तु इस रस की प्राप्ति के लिए अपना बलिदान करना पडता हैं, अपने अस्तित्व को मिटाना पड़ता हैं ।

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल ।

क्र. ग. रस कौ अंग पृ. 16

एक बार हरि रस पीने से उसका प्रभाव चिरस्थायी हो जाता हैं । साध्य की प्राप्ति के बाद साधक जीवन मुक्त हो जाता हैं । परन्तु रस रूप हरि को प्राप्त कर लेने पर उस अनुभूति को वाणी द्वारा व्यक्त करना कठिन हैं । उसका स्वाद गूंगे के गुड की तरह हैं । ऐसे थोडे ही मनुष्य भाग्यशाली होते हैं जिन को रस रूप निरंजन देव प्राप्त होते हैं । योगी, ऋषि, तपस्वी, सन्यासी कोई भी उसका रूप स्पष्ट नहीं कर सके । असीम को शब्दों की सीमा में बांधना संभव नहीं हैं । अनादिकाल से मनुष्य अदृष्ट सत्ता के संबंध में चिंतन मनन करता आया हैं जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य ने अपनी अनुभूति को यथा साध्य वाणी देने का प्रयास किया हैं । इस प्रयास का ही स्थूल एवं मूर्त रूप अवतारवाद हैं । संतों ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करने में प्राय: उपनिषदों की प्रणाली का अनुसरण किया हैं । अत: उनके स्वर में अमूर्त सत्ता का ही संगीत सुनाई देता हैं । भागवत् भक्ति की धारा में संतों ने भी स्नान किया । अत: उनकी अभिव्यक्तियों में उसका प्रभाव परिलक्षित होता हैं । अदृष्ट के प्रति अपनी अनुभूति व्यक्त करने में संतगण बौद्ध, शैव तथा इस्लाम दर्शनों से भी प्रभावित हुए हैं ।

मतवाद की दृष्टि से विचार करें तो संतमत के प्रवर्तक कबीर का स्पष्ट मत है कि यदि निर्गुण ज्ञेय है तो सगुण सेव्य हैं और संतो की ध्यान भूमि इन दोनों से परे हैं ।

`वे कहते है --- सर्गुण की सेवा करो निर्गुण का करु ज्ञान
सर्गुण निर्गुण से परे तहां हमारा ध्यान ।

कबीर वचनावली

क्रियात्मक सेवा भाव की दृष्टि से कबीर को सगुण रूप स्वीकार हैं, पर वही उनका चरम लक्ष्य नहीं हैं । तुलसी जैसे सगुणवादी भक्त भी निर्गुण और सगुण दोनों को ब्रह्म के दो स्वरूप मानकर भगवान को गुणातीत मानते हैं ।

अगुन सगुन दुई ब्रम्ह सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा
गुनातीत सचराचर स्वामी । जब सगुन निर्गुन रूप अनूप भूप सिरोमनी
रामचरित मानस ।

यहां पर अंतर इतना ही हैं कि जहां सगुणवादी भक्त अपने आराध्य के एक विशेष के प्रति मुग्ध रहता हैं वहां निर्गुणवादी संत कवि उस में एक प्रकार की अनन्तता का भाव निरन्तर बनाए रखना चाहता हैं । सगुणवादी रूप की सीमा को अपने आकर्षण का केन्द्र बनाकर उसे स्वीकार करते हैं और निर्गुणवादी रूप की सीमा को तोडकर रूपातीत की असीमता में ही अपने को खो देना चाहते हैं और उसी में आनन्दित होते हैं । इसीलिए कबीर कहते हैं ---

चतुर्भजा के ध्यान मे ब्रजवासी सब संत
कबी मगनवा रूप मे जाके भुजा अनंत ।
क.ग्र. पृ. 60

कबीर ने स्वयं को सगुणवादियों से अलग बताते हुए भी उनके प्रति अपनी निष्ठा और सहृदयता का परिचय दिया हैं । यही नहीं संत कवियों के मतवाद में कोरे ज्ञान को निरर्थक कह कर सरल प्रेम मार्ग का आग्रह जो स्थान स्थान पर मिलता है वह सगुणवादी भक्तों का एक मूल सिद्धान्त हैं जो इन संतो से लिया गया हैं । कबीर बार-बार यही कहते हैं कि बिना प्रेम के भक्ति निष्फल हैं केवल ज्ञान से ही परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता । प्रेम भक्ति का अनिवार्य तत्व हैं । इसलिए वे कहते हैं ---

पोथी पढि पढि जग मुआ तथा
बिना प्रेम नहीं भक्ति अथवा प्रेमी मिलै सब विष अमृत हो ।
सत्य कबीर साखी, 5, ।।
क.ग्र. पृ. 67.

केवल बौद्धिक तर्क और ज्ञान की प्रवृत्ति भक्ति क्षेत्र में बाधक हैं । संत कवियों की यह धारणा सगुणवादी तुलसी की निम्नलिखित उक्ति से साम्य रखती हैं --

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई
निसि गृह मध्य दीप कीबातन्ह तम निवृत्ति नहीं होई ।।

यदि साधना के लक्ष्य की दृष्टि से देखा जाय तो जिस प्रकार सगुण मार्गी भक्त अपने आराध्य के साक्षात्कार को ही अपना सर्वस्व मानकर उसके आगे मोक्ष को तुच्छ मानते हैं उसी प्रकार संत कवि भी अनन्य भाव से एकमात्र अपने इष्ट को ही चाहता हैं और उसके आगे मुक्ति, सिद्धि, योग , भोग आदि सभी चीज़ों में अरुचि प्रकट करता हैं ।

आराध्य के साथ व्यक्तिगत प्रेम संबंध की अनुभूति सगुणवादी भक्तों की साधना का सब से सरस एवं महत्वपूर्ण पक्ष हैं । दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि भक्ति रसों की कल्पना इसी संबंध का परिणाम हैं । सगुणवादी भक्तों ने व्यक्तिगत प्रेम और भगवान के साथ अपना संबंध स्थापित किया हैं वह पूर्णतः संत कवियों की भांति ही हैं । सगुणवादी भक्तों का यह प्रेम तत्त्व कबीर के प्रेम तत्व और रागात्मक संबंध से साम्य रखता हैं । कबीर की रागात्मक मधुरा भक्ति का विकास ही सगणवादी भक्तों में देखा जा सकता हैं । संत कवियों की साधना में भी अपने प्रेम तत्व का उत्कर्ष, आराध्य के साथ विविध संबंध के माध्यम से व्यक्त होती हैं, जिसे विशुद्ध निर्गुण भाव नहीं कहा जा सकता हैं । कबीर ने भी अपने आराध्य के साथ विविध संबंध की अनुभूति की हैं । उन में वात्सल्य, दाम्पत्य आदि संबंधों की सुंदर अभिव्यक्ति हुई हैं । जैसे --- हरि जननी मै बालक तेरा........

....

कहै कबीर एक बुद्धिविचारी बालक दुखी दुखी महतारी ।

इस व्यक्तिगत प्रेम संबंध की गहराई संत कवियों में दाम्पत्य भाव में दिखायी देती हैं जहां ये संत कवि अपने को प्रेमिका के रूप में उपस्थित करते हुए अपने प्रियतम की खोज में तन्मय होते हैं ।

इस तरह की भावनाओ में वैष्णव सगुण भक्ति के "माधुर्यभाव" का प्रभाव दिखायी देता हैं । जब कबीर स्वयं को परमात्मा की प्रेमिका के रूप में देखते हैं और प्रिय से मिलने के लिए व्याकुल है तथा उस प्रिय की खोज मे निकल पडते है तो यहां वे पूरे सगुणवादी भक्त की तरह प्रतीत होते हैं । उनकी व्याकुलता, विरह, तडप, मिलन की लगन "सूर की राधा" के साथ साम्य रखती हैं ।

कबीर अपने प्रियतम की "ऊंची अटरिया" देखने को चलते है अथवा जब उनकी चुनरिया प्रेम रस के बूंदों से भीगने लगती है और वे सुहागिन के रूप में आरती साज कर प्रिय को ढूंढने निकल पडते हैं । अथवा जब वे अपनी अलसाई आंखों के साथ पिया के पलंग पर धीरे-धीरे पांव रखते हुए बढ़ते हैं तो वे इसी "माधुर्य भाव" की ओर इंगित करते हैं ।

8 पिय को ऊंची रे अटरिया तोरी देखन चली
भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन
ये अंखिया अलसानी पिया हुं सेज चलो ।

कबीर.. ह.प्र. द्विवेदी.

संतों की सहज समाधि की अवस्था का विकसित रूप सगुणवादी साधकों की अन्तर्यामी मानस पूजा से भिन्न नहीं हैं । कबीर कहते हैं --

आंख न मूदौं कान न रूधो तनिक कष्ट नहि धारो
खुले नैन पहिचानो हंसि हंसि सुंदर रूप निहारों ।

बिना आंख मूंदे खुले नेत्रों से परमाराध्य के सुन्दर रूप निहारने की बात में सगुणवाद का स्पर्श नहीं तो और क्या हैं ? रूपातीत की रूपानुभूति नहीं तो और क्या हैं ? निर्गुण ब्रह्म की आनंदमयी स्थिति से कहीं अधिक यहां पर सगुण ब्रम्ह की उल्लासमयी उपस्थिति की व्यंजना स्वयं हो जाती है ।

इस विवेचन से इतना स्पष्ट हैं कि निर्गुनिया संतों की विचारधारा अनेक अंशों में सगुणवाद के मूल तत्वों से किसी न किसी मात्रा में प्रभावित हैं ।

सगुण भावना वह मिठास हैं जिस के बिना निर्गुणवादी साधना का सागर अगाध होते हुए भी खारा ही रह जाता ।

हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में संत कवि सामान्यत: निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक के रूप में विख्यात रहे हैं पर उनके काव्य की रसात्मक अनुभूति अनेक अंशों में सगुण एवं साकार उपासना से संबंधित हैं । जिनमें रूप, लीला, धामपरक, रहस्यमयी अभिव्यक्ति के माधुर्य भाव विद्यमान हैं । संतों के काव्य का विचार पक्ष निर्गुण परक रहा हैं पर भावपक्ष सगुण साधना की रसात्मकता से समृद्ध हैं ।

सगुण भावना का मनोवैज्ञानिक आधार :

अपने से श्रेष्ठ की ओर आकृष्ट होना तथा उस पर श्रद्धा और प्रेम भाव रखना मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं । लौकिक जीवन में यह देखा गया हैं कि मनुष्य किसी विशेषताओं के प्रति आकर्षित होता हैं जैसे रूप, विद्या, समृद्धि, शक्ति, ओज, तेज आदि । वह दूसरों से प्रेरणा ग्रहण करके अपने में उन विशेषताओं को उतारना चाहता हैं । मनुष्य का यह भी स्वभाव है कि वह किसी सुंदर अनुपम वस्तु को देखकर उसकीओर आकृष्ट होकर मन ही मन उसकी सराहना करता हैं, उस वस्तु से सान्निध्य प्राप्त करने की चेष्टा हैं, उसे पाने की अभिलाषा करता हैं । मनुष्य की इसी मनोदशा ने साधना क्षेत्र में सगुणवाद को जन्म दिया होगा । इसी भावना का बीज हिन्दू अवतारवाद के गर्भ में पाया जाता हैं । कालान्तर में कदाचित इसी भावना ने प्रतिमा पूजन को जन्म दिया हो, क्यों कि प्रतिमा अपने परम प्रिय से सान्निध्य स्थापित करने तथा व्यक्तिगत रूप में उसके प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति अर्पित करने का साधन हैं । जब इस साधन को ही साध्य मान लिया जाता हैं तब प्रतिमा पूजन दोषयुक्त हो जाता हैं ।

गुणों के प्रति मन का आकर्षण, हृदय का खिंचाव स्वाभाविक हैं । अत: मानव मन की इस स्वाभाविक वृत्ति के विरुद्ध उपदेश देना ज्ञानी, विवेकी, तत्वदर्शी एवं क्रान्त दर्शी संतों ने उचित नहीं समझा ।

अतएव उनका निर्गुण मत गुणों के विरोध पर आधारित न होकर अपने में गुणो को समाहित करते हुए अग्रसर हुआ । इस संदर्भ में डॉ. बड़थ्वाल का यह कथन सर्वथा समीचीन हैं -- "संत काव्य को निर्गुण नाम से अभिहित करना युक्तियुक्त कथन नहीं हैं, क्योंकि यदि हठवादी विचारधारा को छोड दें, तो हम देखेंगें कि इन संतों ने न तो पूर्ण रूप से सगुण का परित्याग किया और न निर्गुण को ही सर्वोपरी महत्व प्रदान किया ।

संतों का विरोध तो वस्तुत: स्थूलता के प्रति था । उस असीम, अनन्त, अपरिमेय, अनादि ईश्वर को काल एवं काया के बंधन में बांधना समीचीन नहीं कहा जा सकता । सगुणोपासना के अंतर्गत व्याप्त स्थूलता से ज्ञानी संतों का सामंजस्य नहीं बैठता । वस्तुत: वे साकार की अवहेलना कर सकने में समर्थ न हो सके । यह नहीं कहा जा सकता कि निर्गुणवादी संत उन अवतारों के प्रति आकर्षण का दृढतापूर्वक विरोध कर सके जो दिव्य लोक से अवतरित होकर भक्त को अपने संपर्क का लाभ प्रदान करते हैं । वस्तुत: स्वयं कबीर तथा निर्गुणधारा के अनेक संत उन अवतारों को ओर आकृष्ट होते प्रतीत होते हैं ।

दशरथि राम के ईश्वरत्व को स्पष्ट चुनौती देने वाले कबीर स्वयं श्रीकृष्ण और नरसिंह अवतारों का यशगान मुक्तकंठ से करते हैं ।

राजन कौन तुमारे आवै

....

कबीर को ठाकुर अनद विनोदी बाति न काहू मानी ।

क.ग्र. पृ. 319

सगुण भावना का दार्शनिक आधार :

जिसे आंख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते, वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, मन जिसके पास पहुंच नहीं सकता, उस परमात्मा को कैसे जाना जाय ।

यह विषय अनादि काल से मानव विचार धारा को उद्वेलित करता रहा है । प्रत्येक युग मे विचारकों ने ईश्वर को जानने के लिए अपने ज्ञान अनुभव एवं तर्क के आधार पर कुछ अनुमान प्रस्तुत किये हैं । इससे यह निष्कर्ष निकलता हैं कि मानव तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप ही ईश्वर के विषय में विचार व्यक्त करता आया हैं । आदिम युग में ईश्वर की कल्पना एक अत्यन्त प्रभावशाली, भयसंचारक तत्व के रूप में की गयी । शनैः शनैः मानव संस्कृति का विकास होता गया, जिससे मानव चित्त वृत्ति का परिष्कार हुआ । इस अवस्था में पहुंच कर समाज में भय का स्थान प्रेम ने ग्रहण कर लिया । विचारकों ने मानव हृदय के साथ उसका संबंध जोडने के लिए भक्ति का विधान किया । उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में मनुष्य ईश्वर का कोई न कोई व्यक्तित्व अवश्य कल्पित करता आया है । सर्वथा निर्गुण निराकार, जो मन वाणी के लिए अगोचर हैं, मानव मन को आकर्षित नहीं कर पाया वह ईश्वर के कल्पित व्यक्तित्व को सहज ग्रहण कर सका । निर्गुणधारा के संतों ने ईश्वर को गुणातीत मानते हुए भी उस में प्रेम भावना का समावेश करके उसे हृदयग्राह्य बना दिया । प्रेम स्वरूप परमात्मा केवल तत्व न होकर व्यक्तित्व प्रधान हो गया । प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी और प्रिय का होना अपेक्षित हैं । प्रिय और प्रेमी का व्यक्तित्व होना भी आवश्यक हैं । व्यक्तित्व के अभाव में प्रेम की कल्पना सम्भाव्य नहीं हैं । अतः प्रेम के माध्यम से परमात्मा व्यक्तित्वधारी प्रियतम, सखा, सहचर, माता, पिता आदि सब कुछ हो गया । ईश्वर के रूप, रंग, अस्तित्व आदि के संत दादूदयाल का कथन विचारणीय है ।

> इसक अलह की जात है, इसक अलह का अंग
> इसक अलह औजूद है । इसक अलह का रंग ।
>
> दादू दयाल की बानी, भाग-1 पृ. 50

कबीर कहते हैं -- "मैने प्रेम के माध्यम से दयाल (परमात्मा) का दर्शन किया हैं ।

> ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाडि पोलि
> दरसन भया दयाल का, सूलभई सुख सोइ ।
>
> क.ग्र. पृ. 16

प्रेम की अतिशयता में प्रेमी और प्रिय दोनों परस्पर एक हो गये । ईश्वर केवल भक्तों का परम प्रिय न होकर उनका प्रेमी भी हो गया । इस प्रकार प्रेम के माध्यम से निर्गुण साधना भी सगुण हो गयी । वह प्रेम भावना, परमात्म क्षेत्र तक ही सीमित न रही, अपितु इस का विस्तार गुरु एवं साधु संतों के लिए भी हो गया जो इस लोक में ईश्वर के सदृश पूजे जाने लगे । परिणाम स्वरूप प्रतिमा पूजन तथा अवतार वाद जिनका उन्मूलन करना संतों ने अपना लक्ष्य बनाया था, पुनः गुरु तथा साधुओं के वेश में प्रकट हो गये ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हैं कि संतों की भक्ति निर्गुण होते हुए भी सगुण तत्वों से ओत-प्रोत हैं । संतों ने अपने जीवन काल में निर्गुण, निर्विकार अद्वितीय, चिरस्वरूप परमेश्वर की उपासना का उपदेश दिया । उन्होने आत्मा में परमात्मा का दर्शन करने का आग्रह किया और व्यक्ति पूजा की कौन कहे । उनकी भक्ति पौराणिक भक्ति से प्रभावित है । ईश्वर के प्रति मानव हृदय की भक्ति उसके विशिष्ट गुणों पर ही आधारित हैं । कभी वह भक्ति स्थूलता का आश्रय लेती हुई दृष्टिगोचर होती हैं तो कभी सूक्ष्म का आधार ग्रहण करके अग्रसर होती हैं । निर्गुण निराकार की भक्ति इस युग में निर्मित ज्ञानमार्गी उपनिषदों की देन हैं । संतों ने ज्ञानमार्गी निर्गुण भक्ति में प्रेम तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं । अतः संतों की भक्ति ज्ञान से पोषित एवं प्रेम से संकलित हैं । उन्होने निर्गुण ब्रह्म के साथ हृदय खोल कर प्रेम केलि किया हैं । आगे चल कर निर्गुण निराकार कतिपय विशिष्ट साधकों तक ही सीमित रहा, लोक साधना के क्षेत्र में सामान्य जन समुदाय ने तो सगुण साकार को ही उपास्य माना ।

तृतीय - अध्याय

निर्गुण सम्प्रदाय की प्रेम साधना का स्वरूप

1. भक्ति और प्रेम
   प्रेम व्युत्पत्त्यर्थ
2. निर्गुण सम्प्रदाय से पूर्व मधुरा भक्ति
   1. माधुर्य भाव का साहित्यिक रूप
   2. संतो की उपासना मे भक्ति
   3. संतो की निष्काम भक्ति
   4. संतो की भक्ति मे आत्म निवेदन एवं दैन्य
   5. भक्ति दु:साध्य
3. निर्गुण सम्प्रदाय मे प्रेम तत्व या मधुरा भक्ति
   1. निर्गुणीयो का प्रेम तत्व
   2. निर्गुणी या संतो की रति
   3. संतो की रति के आलम्बन
   4. संतो का स्वकीया प्रेम
   5. संतो की नायिका
4. निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक कबीर
   कबीर का प्रेम तत्व या प्रेम साधना

भक्ति और प्रेम :

भारतीय संस्कृति का भवन श्रध्दा, ईश्वर के प्रति निष्ठा, प्रेम तथा भक्ति पर स्थित है । वेद-पुराण, श्रुति स्मृति आदि इस भवन के स्तम्भ है । इनके माध्यम से ईश्वर की प्रार्थना, उपासना, स्तुति की गयी है । जैसे ॐ, अग्नि, सूर्य आदि की उपासना वेदों में की गयी है ।

मनुष्य में जो ईश्वर के प्रति श्रध्दा भाव है वह हृदय का क्षेत्र है, नीति, आदर्श, सत्य अनेक जो मानवीय मूल्य हैं वह बुध्दि का कार्य व्यापार है । मनुष्य के जीवन में धर्म एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । धर्म के पथ का अनुसरण करके ही व्यक्ति आचार विचार में शुध्दता रखते हुए भक्ति मार्ग की ओर उन्मुख होता है । भक्ति मनुष्य के हृदय से निःसृत ईश्वर के प्रति प्रेम भाव है ।

भक्तिस्य परम धर्मः

अर्थात भक्ति एक रस है । प्रेम भक्ति का सोपान है । बिना प्रेम भाव के अथवा प्रेम रस के भक्ति असंभव है । श्रध्दा तथा प्रेम के योग से ही भक्ति का यह स्त्रोत मनुष्य के हृदय से प्रस्फुटित होता है । भक्ति जो पूजनीय है उसके प्रति हमारी श्रध्दा तथा प्रेम भावना होती है । भक्ति का सब से अधिक महत्वपूर्ण तत्व है प्रेम । यह प्रेम तत्व ही भक्ति को अन्य साधना मार्गों से श्रेष्ठ बनाता है । भक्त का भगवान के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है । भक्ति प्रेम और श्रध्दा के कारण उत्पन्न होती है ।

प्रेम व्युत्पत्यर्थ :

प्रेम शब्द की व्युत्पत्ति "प्री" धातु से हुई है । [1] इसका अर्थ प्रसन्न करना है । इसका प्रकार धात्त्वर्थ में ही आनन्द लक्ष के रूप में प्रतिष्ठित है । इसमें "श्मन" प्रत्यय का संयोग करके प्रेमन -प्रेम भाव वाचक संज्ञा व्युत्पन्न की गयी है ।

---

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी, ज्ञानोदय, अक्टूबर 1958, पृ. 24

यह शब्द प्रेम भावार्थक है । "प्री" धातु से "य" मिलकर विशेषण की व्युत्पत्ति करता है । "प्रिय" का भाव ही प्रेम है । प्रेम के अन्य पर्यायवाची शब्दों में "प्रणय" महत्वपूर्ण है । प्रेम का अर्थ है जो प्रीति दे, तृप्ति दे वही प्रेम है । तृप्ति देने की क्रिया प्रिय से सम्बद्ध होकर ही संपन्न हो सकती है ।

प्रेम मानव की सबसे बड़ी शक्ति भी है और सब से बड़ी दुर्बलता भी एक ओर यह अमिट ज्योति, अदम्य बल और असीम साहस की प्रणेता होती है तो दूसरी ओर यही ज्योति प्रतिशोध की ज्वाला भी बन सकती है । प्रेम ब्रम्हा के समान सर्जक विष्णु के समान पालक और महेश के समान संहारक भी है । प्रेम वरदान भी है और अभिशाप भी । प्रेम सत्य है, शिव है और सुंदर भी है । प्रेम के रंग को समय की धूल धूमिल नहीं कर पाती । संक्षेप में प्रेम मानव मन की समस्त कोमल भावनाओं का प्रतीक है । प्रेम ने समाज तक ही अपना विस्तार नहीं रखा वरन् आध्यात्मिक जगत मे उसका महत्व स्थापित हुआ । निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रेम मनुष्य के हृदय की वह उदात्त भावना है जिस की कि वैयक्तिक, सामाजिक और आध्यात्मिक शुद्धतम परिणतियाँ संभव है और जिसका मूलाधार त्याग और बलिदान की भावना है ।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है । साहित्य जीवन का दर्पण है और प्रेम जीवन की मूल शक्ति । यही कारण है कि एक प्रकार से समस्त विश्व-साहित्य प्रेम के स्पन्दनों से अनुभावित है । प्रेम का माध्यम साहित्य का सब से सशक्त माध्यम है । जिस प्रकार लवण बिना षटरस व्यंजन भी फीके लगते हैं उसी प्रकार प्रेम भावना के बिना साहित्य शून्य है । काव्य साहित्य का सब से सशक्त और कोमल अंग है और प्रेम मानव की कोमलतम एवं स्निग्धतम प्रवृत्ति । प्रेम भावना की व्यापकता तो निर्विवाद है । अतः जीवन की प्रेरक शक्ति मानव अस्तित्व का मूलाधार होने के कारण प्रेम सहज ही साहित्य का सब से सशक्त अंग है । काव्य और प्रेम भावना का वही संबंध है जो हृदय और उसकी धड़कनों का होता है । निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रेम ही मानव की आदि एवं चिरन्तन भावना है, मानव के अस्तित्व का आधार प्रेम है ।

प्रेम ने ही मानव को संस्कार दिये और उसके पाशविक दुर्गुणों और अपराधों को दूर कर के मानवता का पाठ पढ़ाया और उसे देवत्व की ओर अग्रसर किया है । मानव में प्रेम की भूख स्वाभाविक है । स्नेह की प्यास नैसर्गिक है और जीवन का आनन्द ही प्रेम है । सृष्टि के रचियता के प्रति मानव का यह प्रेम स्वाभाविक है और इस प्रेम की अभिव्यक्ति वह अपनी वाणी द्वारा कभी काव्य में करता आया है तो कभी भक्ति के गीत गा कर । यही प्रेम आगे चल कर मधुर भक्ति में परिणत हुआ ।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल का आरंभ ईसा की 7 वीं शताब्दी से 17 वीं शताब्दी तक माना जाता है । इस युग में भक्ति संबंधी रचनाओं को विशेष महत्व दिया गया । पुराणों द्वारा ऐसे अनेक रूपों की कल्पना की गयी जिस कारण देवी देवताओं का अवतारों के रूप में अवतरण हुआ । अवतारों के पारिवारिक जीवन की कल्पना भी की गयी जिस में नारी को देवी का स्थान दिया गया । पुराण साहित्य भक्ति का आधार ग्रंथ माना जाता है । इन देवी-देवताओं की स्तुति में जो गीत गाये गये वही भक्ति के रूप में प्रचलित हुए । भक्तिकाल की रचनाओं ने दो दिशाएँ ग्रहण की एक निर्गुण तथा दूसरी सगुण । काल क्रमानुसार निर्गुण धारा प्रथम है । निर्गुण संप्रदाय के अंतर्गत नाथ संप्रदाय और सगुण में वैष्णव संप्रदाय है । इन दोनों संप्रदायों ने अपने इष्ट देव को पाने के लिए भिन्न-भिन्न साधना मार्ग अपनाये । एक का मार्ग निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति प्रेम, अनुराग, एकनिष्ठता द्वारा इष्ट देव को पाना था तो दूसरे का सगुण साकार रूप में ईश्वर की पूजा, वंदना करना । निर्गुण संप्रदाय के सभी कवियों ने प्रेम तत्व को अपनी भक्ति का मुख्य अंग बनाया । प्रेम उनकी भक्ति का सब से महत्वपूर्ण तत्व है । बिना प्रेम के भक्ति व्यर्थ है । इसी श्रद्धा, और प्रेम से मिश्रित भक्ति का ही एक और नाम माधुर्य भक्ति या माधुर्योपासना है । निर्गुण संप्रदाय के सभी भक्त संत कहे जाते है । इन संतों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म को अपने शब्दों द्वारा साकार रूप दिया है । उन्होने आत्मा परमात्मा को लौकिक संबंधों का रूप देकर रागानुगा तथा संबंध रूपा भक्ति को अपनाया है । दाम्पत्य संबंध के रूप मे इन संतों ने अपना संबंध उस परम ब्रह्म से जोड़ा है और अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की है ।

निर्गुण संप्रदाय से पूर्व मधुरा भक्ति :-

वैदिक साहित्य में "प्रेम" शब्द का अभाव सा था । "प्रिय" "प्रिया" "प्रेय" अथवा "श्रेष्ठ" जैसे शब्द भिन्न-भिन्न प्रसंगों में आया करते हैं । उस समय प्रेम का अर्थ कदाचित् "काम" होता था जो "कामना" का आशय प्रकट करता था । "उस समय पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम की तुलना के लिए चकवा-चकवी के जोडे का उदाहरण उपस्थित किया जाता था ।[1]

प्रेम शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में बहुत पीछे चलकर मिलता है और वे भी अधिकतर काव्य रचना में उसकी उपलब्धि होती थी । भक्ति का वह रूप जिस में इष्ट के प्रति प्रेम भाव की अभिव्यक्ति हो बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत इसकी चर्चा इतिहास के मध्यकाल से आरंभ होती है ।

"भक्ति रसामृत सिंधु" के रचयिता ने भक्ति रस के अंतर्गत प्रेम का पृथक परिचय देते हुए बताया कि जिस भाव द्वारा हमारी अंतरात्मा स्निग्ध, कोमल एवं निर्मल हो तथा जिस पर ममत्व की गहरी छाप भी लगी हो उसी के गाढ़े रूप को हम प्रेम की संज्ञा देते हैं । अर्थात् भक्ति की साधना के अभ्यास द्वारा रति अथवा अनुराग का भाव उदय होता है जो गाढ़ा हो जाने पर "प्रेम" नाम से अभिहित होता है ।

प्रेम भाव की विशेषता यह है कि उस में आनन्द का अंश किसी न किसी प्रकार बना रहता है । प्रेमी को अपने प्रेम पात्र से वियुक्त होने पर भी उसकी स्मृति सदा आनन्द विभोर किये रहती है और वह उनके विरह में कष्ट झेलना भी सुखद समझती है ।

---

1. अथर्व वेद -कां.-4.सू.र.म-64

प्रेम सबंधी भारतीय साहित्य में उक्त भाव को प्रकट करने के लिए कदाचित "प्रीति" शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से होता आया है जिसका अर्थ है-- तृप्ति, संतोष, आनन्द । प्रेम वस्तुतः एक ऐसा भाव है जो किसी अलौकिक व अद्वितीय प्रेमास्पद के प्रति होता हुआ भी एक से अधिक रूप धारण करता है । प्रेम के उन्माद एवं उन्मुक्त रूप के दर्शन दाम्पत्य भाव में होते है । प्रेम साधना के स्पष्ट रूप का दर्शन सर्व प्रथम "श्रीमदभागवत पुराण" में होता है । मधुर भक्ति रस का सांकेतिक वर्णन उपनिषदों से ही प्राप्त होने लगता है । वृहदारण्य कोपनिषद में परमात्मा के साथ जीवात्मा के मिलन की तुलना दो प्रेमी-प्रेमिकाओं के अलिंगन से की गयी है । जिस प्रकार कोई पुरूष अपनी प्रियतमा द्वारा अलिंगन होने पर सब बाहरी एवं भीतरी बातों को भूल जाता है उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के साथ पुरूष को प्रज्ञा के साथ संयुक्त होने पर बाह्य एवं आन्तरिक समस्त ज्ञान शून्य हो जाता है । [1]

सांख्य दर्शन के पुरूष एवं प्रकृति बहुत काल तक विश्व की प्रेम भरी लीला में स्त्री एवं पुरूष के ही प्रतीक माने जाते रहे हैं । [2] आत्मोचित विभावादि द्वारा प्रियता §मधुरा§ रति जब सदाशय व्यक्तियों के हृदय में पुष्टि होती है तब उसे मधुर रस अथवा मधुरा भक्ति कहते हैं । [3]

---

1. तद्यथा प्रियया स्त्रिया सं परिष्वक्तो न बाह्य
   .... अमामं रूपम ---

   वृहदारण्यकोपनिषद 4-3-29
2. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय-पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल पृ. 354
3. आत्मोचित विभावार्थ । पुष्टि नीता संता हृदि
   माधुराख्या भवेद्व भक्ति रसो सा मधुर रतिः §भक्ति रसामृत सिन्धु§

माधुर्य भाव का साहित्यिक रूप :

माधुर्य शब्द के अनेक अर्थ है । सामान्य अर्थों में इस शब्द से मधुरता का तात्पर्य है । मधुरता के अतिरिक्त इस शब्द का व्यवहार, सुन्दरता, मिठास, आनन्द, प्रेम, आकर्षण आदि है । प्रेम की अधिकता के कारण बिना किसी श्रृंगार के भी सुन्दर तथा मनोहर अनुभूति होना "माधुर्य" है ।

माधुर्य भाव में भक्त भगवान को उसी प्रकार प्रेम का पात्र बनाता है जिस प्रकार परिवार में पुत्र, सखा, पति आदि । इन निकट संबंधों के कारण माधुर्य भाव की भक्ति में आत्मीयता है ।

संतों की उपासना में भक्ति :

मध्यकालीन भारतीय जीवन को प्रभावित करने वाली संतों की भक्ति ने जीवन को नवीन चेतना दी । इस युग की साधारण धर्म प्राण-जनता को सिद्धों की साधनाओं तथा नाथों के नीरस यौगिक प्रक्रियाओं से बाहर निकाल कर भाव-भक्ति की अलौकिक धारा को अवगाहन कराने का पूर्ण श्रेय निर्गुणी संतों को ही है । भक्ति का प्रचार संतों की देन है । डॉ. मुंशीराम शर्मा ने तथा सोमनाथ शुक्ल ने अपने कबीर वचनामृत की भूमिका में लिखा है --- "ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यद्यपि कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र मे भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई, कबीर काव्य भक्ति का स्त्रोत है । [1]

---

1. कबीर वचनामृत -संपादक मुंशीराम शर्मा - पृ. 55

निर्गुण संप्रदाय के प्रवर्तक कबीर से पूर्व नाथ मत की जटिल योग साधना जनता के लिये दु:साध्य थी । तभी दक्षिण में भक्ति का उदय हुआ जिसका पालन रामानुजाचार्य ने किया । श्री रामानन्द उसे उत्तराखंड में लाए और उसी को कबीर ने सप्त द्वीप और नव खण्डों में व्याप्त कर दिया । [1]

वस्तुत: राम की भक्ति कबीर को रामानन्द से प्राप्त हुई । जिसके परिणाम स्वरूप उनका मार्ग योगियों, नाथों, सिद्धों और पंडितों से पृथक था । उनकी शिष्य परम्परा में संक्रमित होता हुआ विशाल निर्गुण संप्रदाय के रूप में व्याप्त हुआ । समूचे संत साहित्य में भक्ति का स्वर प्रमुख है । रामानन्द से पूर्व उत्तरी भारत में "राम" विष्णु के अवतार अवश्य माने जाते थे किन्तु परात्पर ब्रम्ह का रूप कबीर तथा उनके उत्तराधिकारी संतों द्वारा प्रतिपादित किया गया है । भक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए कबीर ने कहा है कि भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है भक्ति बिना मुक्ति असंभव है । [2]

कबीर ने हरि भक्ति को ही सब से श्रेष्ठ तथा जीवन का मूल माना है । उन्होंने मनुष्य जीवन को क्षण भंगुर, नश्वर बता कर हरि भक्ति को जीवन का उद्देश्य बताया है । हरि भक्ति के बिना संसार में जीने को धिक्कार है । क्योंकि सार वस्तु केवल हरि भक्ति ही है सांसारिक जीवन को धुएँ के बादल के समान नष्ट होते देर नहीं लगती । [3]

---

1. भक्ति द्रविड उपजी लाए रामानन्द
   परगत किया कबीर ने सप्त द्वीपनव खण्ड । स.क.सा. 5×।
2. भाव भगति बिसवास बिनुकटै नसंसै सूल
   कहै कबीर हरि भगति बिन मुकति नहीं रेमूल । क्र.ग्र. (रमैणी) पृ. 168
3. कबीर हरि भगति, बिन धिग जीमण संसार
   धूंवा केरा धौलहर, जात न लागै बार । बा.सा. 2/27.

हरि भक्ति के बिना न हृदय का मल शुद्ध होगा न मुक्ति मिलेगी । भक्ति हीन मनुष्यों से कबीर सदैव डरने को कहते हैं । [1]

संतों ने जिस भक्ति की महत्ता को प्रतिपादित किया वह प्रेम मूलक है । नवधा भक्ति के अतिरिक्त जो अन्य प्रकार की दसवीं भक्ति है वह है रागानुगा अथवा प्रेम लक्षणा जो राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है । संतों को अपने आराध्यके प्रति अनन्य प्रेम है । कबीर ने रागानुगा भक्ति को महत्व दिया । उन्होने जहां भक्ति को योग और ज्ञान से श्रेष्ठ बताया वहां भक्ति को भाग्य की वस्तु बताया । प्रेम प्रीति का विषय है उसको प्राप्त करने के लिए प्रेम चाहिए । सारा जगत् भक्ति से भरा है पर जिसमें प्रेम नहीं है वह उसे नहीं पा सकता । [2]

संतों की निष्काम भक्ति :

प्राय: मनुष्य स्वार्थ भावना के वशीभूत होकर ही भगवान की भक्ति में प्रवृत्त होता है । किन्तु संत भक्तों ने निष्काम भक्ति को उच्च बताया है । वे भगवान से कुछ नहीं चाहते । न उन्हें धन का लोभ है न यश बल, विद्या, प्रभुता की इच्छा । उनकी एकमात्र इच्छा है आराध्य के दर्शन और उनके चरणों में अविचल प्रेम । उन्हे स्वर्ग की भी चाह नहीं है वे आराध्य के दर्शन को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ मानते हैं । कबीर के अनुसार जब तक भक्ति सकाम है तब तक वह निष्फल है, सकाम भक्ति कामनाओं की पूर्ति कर सकती है पर सर्वस्व दे कर भी भक्त भगवान को नहीं पा सकता अत: सकाम भक्ति व्यर्थ है । भक्ति सदैव निस्वार्थ भाव से करना चाहिए ।

---

1. जे नर भए भगति थे न्यारे तिनको सदा डराते रहिये ।
2. भाग बिना नहि पाइये, प्रेम प्रीति की भक्ति
   बिना प्रेम नहो भक्ति कछु भक्तो परयो सब जगत ।
   संत कबीर सा. 15/11 वा. पृ. 144

संतों की भक्ति में आत्म निवेदन एवं दैन्य :

भक्ति अपने से बड़े अर्थात् पूजनीय के प्रति होती है । यह भाव तभी होता है जब अपने आराध्य के प्रति भक्त के हृदय में प्रेम और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है । वह अपनी दीनता, लघुता और लाचारी को व्यक्त करता है और परमब्रह्म को दयालु, श्रेष्ठ और संपूर्ण गुणों का आगार मानता है । ज्ञानी संतों ने भक्ति में आत्म निवेदन और दैन्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । भगवान के महत्व की अनुभूति के कारण ही भक्ति का उदय होता है । संतों ने अपने इष्टदेव के महत्त्व का वर्णन सांसारिक दंभ अभिमान छल कपट, त्याग कर दिया है । उनके आत्म निवेदन में ज्ञान की भावना सजग रहती है । कबीर भी "राम" के दर्शन के लिए सब कुछ करने को तैयार है, कुम्हार बन कर बर्तन बनाने को तैयार है धोबी बन कर मल धो सकते है शरीर को कोल्हू बना कर पाप और पुण्य को पेल सकते हैं । वे नाऊ, अवधू, बधिक, बनजारा, जुआरी नाविक आदि सब कुछ बन कर अपना तथा अपने पूर्वजों का उद्धार करने के लिए प्रयत्नशील हैं । [1]

दैन्य भाव के प्रदर्शन में कबीर तुलसी से भी आगे बढ़ जाते हैं । तुलसीदास ने स्वयं को छोटा और खोटा तथा भगवान के बड़प्पन की बात कही है परन्तु कबीर ने अपनी लघुता बताने के लिए राम के कुत्ते के रूप में अपना परिचय देते हैं । वे कहते हैं मैं राम का कुत्ता हूं और मुतिया मेरा नाम है, मेरे गले में राम ने रस्सी बांधी है वह जिधर खींचता है मैं उधर जाता हूं वह पुचकारते हुए बुलाता है तो खिंचा चला जाता हूं और जब दुत्कारता है तो भागने के सिवा कोई और चारा नहीं रहता । [2]

---

1. आवध राम सबै करम करिहूं
   कहि कबीर भौ सागर तिरि हूं, आप तिरू बप तारू ।

   क. ग्र. पृ. 389

2. कबीर कुत्ता राम का, मुतिया मेरा नाऊ
   ज्यू हरि राखै त्यू रहौ, जो देवै सो खाऊं ।।

   क. ग्र.

भक्ति दु:साध्य :

संतों की भक्ति अत्यन्त दु:साध्य है । इस में अहंकारी का प्रवेश संभव नहीं है ।[1] इस भक्ति का द्वार राइ के दशमांश के समान सूक्ष्म है । जो पूर्ण आत्मोत्सर्ग कर सके वही शूर वीर भक्ति साधना कर सकता है ।[2] इस पथ पर चलना सरल काम नहीं है इस पर चलने के लिए साहस चाहिए । इस पथ पर वही चल सकता है जो तलवार की धार पर चल सके ।[3] कबीर भक्ति की कठोरता को समझाते हुए यह भी कहते हैं कि भक्ति अग्नि पुंज के समान है । इस में डर कर जाने वाला दग्ध हो जाता है जो अहंकार का भाव त्याग कर इस अग्नि पुंज में कूद पडता है वही इस साधना को प्राप्त करता है ।[4]

संतों की प्रेम भक्ति का यह पौधा न अग्नि से झुरसता है और न तर्क के तुषारपात से मुरझाता है । हृदय के अंतरतल से वह अपना रस संचय करता है । न आंधी इस पौधे को उखाड सकती है और न पानी इसे डुबा सकता है । इस प्रेम में मादकता नहीं पर मस्ती है कर्कशता नहीं पर कठोरता है । यह प्रेम वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल है । दैन्य से परिपूर्ण निष्काम एवं दु:साध्य प्रेम पूर्ण भक्ति मार्ग संतों को रूचिकर हुआ । यह प्रेम पूर्ण अथवा रागानुगा भक्ति दो प्रकार की होती है -- काम रूपा तथा संबंध रूपा । इन में भगवान और भक्त के प्रेम संबंधों की दृष्टि से संबंध रूपा की भक्ति चार प्रकार की होती है । 1. दास्य 2. सख्य 3. वात्सल्य 4. दाम्पत्य । संतों ने इसी संबंधरूपा भक्ति को अपनाया और उस में भी दाम्पत्य रूप को ।

---

1. भगति दुवारा संकडा, राई दसवे भाइ
   मन तौ मैंगल है रह्यौ, क्यूं करी सकै समाश

2. भगति दुहेकि राम की नहि कायर का काम
   सीस उतारि हथि करी, सो लेहि हरि नाम

3. भगति दुहेलि राम की जैसे खांडे की धार
   जे डोलै तो कटि परै, नहि तो उतरै पार

4. भगति दुहेली राम की नहि तो उतरै पार
   डाकि पडे तो ऊधरे, दाधि कातिग जैसे हरि अग्नि को भार

क.ग्रं पृ - २९४ - २९५

निर्गुण संप्रदाय के संतों ने वैष्णव संप्रदाय से प्रभावित होकर भाव-भक्ति को अपनाया और कृष्ण भक्त कवियों की माधुर्योपासना को अधिक प्रश्रय दिया । हठ योग के प्रभाव को भी उन्होंने दाम्पत्य भाव के रूप में ही ग्रहण करने का संकेत दिया है । दाम्पत्य भाव अथवा माधुर्योपासना के माध्यम से ही संत भक्त कवियों ने रहस्यमय प्रभु अर्थात् अपने परमप्रिय परमात्मा को पाने की चेष्टा की है । उनकी उपासना में तन्मयता और अनुराग की प्रबलता के साथ विरह की तीव्र वेदना भी है । इस उपासना में स्वयं को सुखी करने के साथ साथ प्रियतम को सुख देने एवं प्रसन्न करने की भावना निहित होती है । स्वयं की कामना, तृप्ति, उल्लास नहीं । अतः इन संतों ने अपनी भक्ति, प्रेम, अनुराग के साथ पति-पत्नि, पुत्र, दास आदि संबंधों के रूप में ग्रहण की । इस प्रेम में दर्शन की प्यास, आराध्य को पाने की इच्छा तथा विरह की व्याकुलता का भी समावेश है । इनका काव्य प्रेम रस अथवा माधुर्य रस से ओत-प्रोत है ।

निर्गुण संप्रदाय में मधुरा भक्ति के तत्व या प्रेम तत्व

निर्गुणियों का प्रेम तत्व :

संतों ने अपने जीवन का चरम लक्ष्य परम तत्व की प्राप्ति माना है । उन की दृष्टि से यही तत्व मूल सत्य वस्तु एवं सर्वव्यापी है । इसके अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है । इस तत्व को प्राप्त करने का प्रमुख साधन ज्ञान और प्रेम है । और यह ज्ञान शास्त्र चिंतन या तर्क से प्राप्त वस्तु नहीं है वह तो केवल सहज अनुभूति एवं आत्मसाक्षात्कार रूप है । ऐसे ही प्रेम का सहज रूप संतों को मान्य है । यह निरुपाधिक प्रेम है । इन संतों की भक्ति अन्तर्विरोधों से मुक्त ज्ञान और प्रेम की समन्वय शिला पर आधारित है । ज्ञान की आंधी आने पर साधक प्रेमा भक्ति के जल से भीग उठता है ।[1]

---

1. संतो भाई आई ज्ञान की आंधी ।
   कहै कबीर ज्ञान के प्रगटे उदित भाग तक छीना ।।

   क.ग्र. पद. 16

भक्ति में भी दैन्य एवं आत्म निवेदन की अपेक्षा संतों ने प्रेम को अधिक मान्यता दी है । यह प्रेम भी साधारण नहीं अपितु दिव्य, दम्पति भाव प्रधान है। प्रेम का प्रकाश ही इन निर्गुणी संप्रदाय के कवियों का लक्ष्य रहा है । मधुर भक्ति का स्थायी भाव मधुर रति (दाम्पत्य भाव) सब भक्तियों से श्रेष्ठ है । इसी को भाव भक्ति भी कहा गया है । भाव या रति के उदय होने पर आलम्बन या इष्ट के प्रति मधुर भाव की अनुभूति होती है । प्रेम की प्रथमावस्था ही भाव कहलाती है । भक्तों की भावना के भेदानुसार शांत, रति, सख्य रति, वात्सल्य रति तथा मधुर रति पांच भेदों में प्रकट होती है । निर्गुण संप्रदाय के भक्तों का इष्ट देव के प्रति दाम्पत्य प्रेम, आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मधुर भक्ति का स्थायी भाव रति है । यद्यपि संत भक्तों ने साधना के मार्ग में आत्म शुद्धि और भावतिरेकता की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों का सहारा लिया परन्तु प्रेम इनका मूल विधायक है । प्रेम के सहारे ही इन संतों को सहज समाधि की अवस्था प्राप्त होती है । इस भाव मूलक अवस्था में उसे परमात्मा का साक्षात्कार होता है । संतों की उपासना में, तीन अवस्थाएँ मुख्य हैं । प्रथम है मन की शुद्धि के कारण परम प्रियतम का साक्षात्कार । दूसरी अवस्था है प्रियम के साक्षात्कार के बाद उसके साथ अपना घनिष्ट सबंध स्थापित करना । इस अवस्था में परमात्मा को पाने की तीव्र मिलनेच्छा भक्त के हृदय में जन्म लेती है । उस से प्रेम करना ही आत्मा अपने जीवन का लक्ष्य समझती है । इस प्रेम की अतिरेकता के कारण आत्मा प्रिय वियोग में व्याकुल होती है और विरह से तड़पती है ।

तीसरी तथा अंतिम स्थिति है,आत्मा परमात्मा का पूर्ण मिलन और तादात्म्य इस अवस्था में पहुंच कर साधक को कण-कण मे उसी परम तत्व का साक्षात्कार होने लगता है । उपास्य के दर्शन कर भक्त प्रेम और श्रद्धा की अधिकता के कारण अपने आराध्य से घनिष्ट सबंध स्थापित करता है । यही कारण है कि कभी भक्त उसे माता के रूप में देखता है जैसे :- हरि जननी मै बालक तोरा" तो कभी स्वामी के रुप मे तो कभी पति के रूप में । इन सभी संबंधों में अंतरंग सबंध पति-पत्नी का होता है । इसी कारण अपने आराध्य के प्रति ये साधक अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए तैयार रहता है ।

निर्गुण संप्रदाय के भक्त कवियों ने पत्नी भाव से सर्वात्म समर्पण किया है । भक्त कबीर कहते हैं --- परब्रह्म परमात्मा हरि मेरा प्रियतम है बिना उसके मेरे प्राण नहीं रह सकते । वह मेरा पति है और मैं उसकी पत्नी अर्थात् वह असीम है और मैं ससीम ।[1]

संत दादू दयाल भी इसी दाम्पत्य भाव के समर्थक है । उनका कहना है "हम सभी कोई उस प्रबल एक पति की पत्नीयाँ है और उसी के लिए अपना श्रृंगार करते हैं ।[2]

गुरू नानक भी कहते हैं कि आत्मा रूपी स्त्री का श्रृंगार प्रियतम रूपी परमात्मा को रिझाने के लिए ही है ।[3] संत शिवदयाल का जीवात्मा को यही उपदेश है । हे दुलहिन प्रियतम का साथ करो, तुम अपने नैहर में हो जब कि तुम्हारा पति आकाश में निवास कर रहा है ।[4]

संतों की रति :

उज्जवल नील मणि में श्री जीव गोस्वामी ने रति के तीन भेद किये है--- समर्था रति, समंजसा रति तथा साधारणी रति । समर्था रति को ही सहजसाधना में सहजियों ने अपनाया ।

---

1. हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव
   काहे न मिले राजा राम गोसाई ।। क्र.ग्र.
2. हम सब नारी एक भरतार
   सब कोई तन करे सिंगार ।। बानी ज्ञान सागर पृ. 222
3. सब के कंत सहेलिया सगलिया करि सींगार
   गुरू ग्रंथ साहिब
4. दुलहिन करे पिया का संग
   दुलहा तेरा पिय बसेरा तू बसै नैहर अंग ।
   सारवचन पृ. 28

समर्था रति में स्व सुख तुच्छ होता है अथवा स्व और पर का भेद नहीं रहता। प्रियतम का सुख और आनन्द ही सब कुछ होता है। हिन्दी साहित्य के निर्गुणी संप्रदाय के संतों ने भी परम प्रियतम को प्रसन्न करने तथा सुखी करने के लिए समर्था रति को अपनी भक्ति में स्थान दिया। निर्गुणी संतों की रति निःस्वार्थ एवं अहं मुक्ती है। कबीर अपने प्रियतम को रिझाने का हर संभव प्रयत्न करते हैं। वे प्रियतम को अपने नैनों की शय्या पर बिठा कर अपने पलकों की चिक डालकर उसे रोकने का तथा उसके साथ प्रेम लीला करके उसे रिझाना चाहते हैं।[1]

इस प्रकार कबीर अपने प्रियतम को एकान्त में रिझाकर प्रसन्न करते हैं और इस प्रेम क्रीड़ा से अपने प्रियतम के साथ आनन्द लेते है। परम प्रियतम इस प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर अपने प्रिय को अर्थात् भक्त को अद्वितीय, बहुमूल्य साड़ी भेंट करता है। यह साड़ी साधारण नहीं है, अष्ट प्रहर रूपों तथा आठ हाथों से निर्मित है तथा पंच तत्त्व रूपी पांच रंगों से रंगी हुई है। इस साड़ी का पल्ला चन्द्र और सूर्य से जटित हैं। यह ताने बाने से बुनी हुई नहीं है यह सनातन किन्तु चिर नवीन है। जीवात्मा ऐसी साड़ी अपने प्रियतम से पा कर धन्य हो जाती है।[2]

स्वयं को सुखी करने और प्रभु को सुख देने का भाव निर्गुण संप्रदाय के कवियों में सर्वत्र विद्यमान है। संत दादू दयाल कहते है पतिव्रता स्त्री (जीवात्मा) अपने घर में (हृदय में) पति की सेवा में लीन रहती है। जिस प्रकार की जो आज्ञा प्राणेश्वर की होती है, आज्ञाकारिणी प्रियतमा उसी का पालन करती है।[3]

---

1. नैनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
   पलकों की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय।
2. चुनरिया हमारी पिया ने संवारी
   दास कबीर बलिहारी ।। कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ. 187
3. पतिव्रता गृह आपने करै खसम की सेव
   ज्यौं राखै तैसा त्यौं रहै आग्याकारी टेव ।।

कबीरदास का स्पष्ट कहना है कि यदि सोलह श्रृंगार करके भी कामिनी अपने पति के हृदय को नहीं भाती तो उसका श्रृंगार व्यर्थ है, ऐसी सुन्दरता और श्रृंगार का क्या लाभ ? सुन्दरता तभी सार्थक है जब वह अपने पति को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। यदि पत्नी अपने पति को प्रेम पात्र बन सके तभी वास्तव में वह सुहागिन है।[1] सुहागिन वही है जो अपने पति पर अपना सब कुछ तन, मन, जीवन तथा शरीर तक न्यौछावर कर सके। पति की इच्छानुसार कार्य करना तथा उसे सुखी बनाना ही पत्नी का एकमात्र धर्म है। यह भाव तभी आता है जब प्रेम में अनन्यता हो, एकनिष्ठता हो, संपूर्ण समर्पण की भावना हो। प्रेम के लिए यह आवश्यक है कि भक्त अपने अहं का त्याग करे। बिना स्वयं को मिटाये, सीस नवाये भक्त, परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

संत दादू दयाल कहते हैं --- स्त्री सेवा से ही निम्न या उच्च कुल की होती है। वस्तुतः वही स्त्री सुहागिन है जो अपने पति की सेवा से लाभ प्राप्त करती है।[2]

पत्नी (जीवात्मा) अपना सब कुछ पति (परमात्मा) को समर्पित करके उसे पूर्ण रूप से पा लेना चाहती है। एक बार अपने प्राणेश को पाकर उसे अपनी आंखों में बंद कर लेना चाहती है। प्रेम एकाधिकार चाहता है। संतों ने इस एकाधिकार के संबंध को बहुत सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है। जीवात्मा अपना सर्वस्व सौंपकर अपूर्व अधिकार अनुभव करती है। न वह फिर किसी को देखना चाहती है और न ही अपने प्रिय को देखने देती है। उसकी केवल यही कामना होती है कि मैं इन की होकर रहूं और ये केवल मेरे।[3]

---

1. जो मै पिय के मन नही भाये, तौ का परोसिन के दुलरार- संत सुधा सार पृ. 400
   तन, मन जोवन सौंपी सरीरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा। -संत सुधा सार पृ. 72
2. दादू नीच ऊंच कुल सुंदरी, सेवा सारी होई
   सोह सुगागिन कीजिए, रूपन पीजे धोह -- संत सुधा सार पृ. 400
3. नैना अन्तर आव तु नैन झांपि तोहि लेवे
   ना मै देखौं और को, ना तोहे देखन देवे ।। क.ग्र. सा-184

अनन्यता की यही प्रगाढ़ता समर्था रति में है जो भक्ति शास्त्र के महाभाव की अवस्था में होती है ।

संतों के रति के आलम्बन :

भक्ति शास्त्रों के अनुसार मधुरा भक्ति रस के विषयालम्बन भी कृष्ण और आश्रयालम्बन उनकी बल्लभाएँ है । किन्तु निर्गुण संप्रदाय के संत भक्तों ने अपने प्रेम का विषयालम्बन "राम" को माना तथा आश्रयालम्बन जीवात्मा को । किन्तु उनका "राम" सीमित नहीं है, वह घट-घट व्यापी सर्व व्यापी है ।

संतो का स्वकीया प्रेम :

निर्गुण संप्रदाय के संतों का विषयालम्बन परात्पर ब्रह्म राम को बनाया । इस निर्गुण निराकार "राम" का वर्णन करना वाणी के वश में नहीं । वाणी उस परम ब्रह्म के रूप का वर्णन करने में असमर्थ है ।उस की भक्ति को केवल अनुभव किया जा सकता है, वह गूंगे के गुड के समान अवर्णीय है । इसी दिव्य ज्योति को संतों ने कई रूप में देखा, पति-माता, पुत्र, पत्नी आदि । इन में गहन और घनिष्ट सबंध पति-पत्नी का है । संतों को यही संबंध सब से अधिक रूचिकर हुआ । मर्यादावादी होने के कारण इन संतों ने स्वकीया प्रेम को ग्रहण किया ।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि संतों ने परकीया भाव को न अपनाने का कारण यह हो सकता है कि परकीया नायिका अपने प्रियतम की ओर आकृष्ट होकर उसके प्रति आत्मीयता का भाव स्थापित करना तथा उसका सान्निध्य प्राप्त करना चाहती है, जहां ये बातें जीवात्मा एवं परमात्मा की मौलिक अभिन्नता के कारण संतों के लिए स्वयं सिध्द सत्य के रूप में पहले से ही स्वीकृत रहा करती है । ऐसी दशा में वैसे किसी सबंध की आवश्यकता नहीं रहा करती । पति-पत्नी भाव का उपयोग वे इसी कारण अपनी स्वानुभूति की तीव्रता के लिए ही किया करते हैं जो उनके मन्तव्यनुसार किसी सती, साध्वी स्त्री को अपने पति के प्रति प्रदर्शित की गयी एकान्त निष्ठा एवं आत्म त्याग के द्वारा स्वकीया रूप में भी समुचित प्रकार से सिद्ध हो जाता है ।

---

1. संत काव्य की भूमिका - पृ. 64, संस्करण- 1952.

संतों की नायिका :

निर्गुण संप्रदाय के संत कवियों ने आत्मा परमात्मा के मिलन को प्रिय-प्रियतम, पति-पत्नी के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है । प्रियतमा अर्थात् नायिका को इन संतों ने चार प्रकार के बताया है । 1. कन्याकुमारी 2. सुन्दरी विवाहिता 3. विरहिणी 4. सती ।

1. कुमारी कन्या :- परमात्मा आत्मा का परिचय जब तक नहीं होता तब तक उस को स्थिति कुमारी कन्या के समान होती है । वह प्रियतम अर्थात् "परमात्मा" के विषय में बहुत चिंतित होतीहै पता नहीं वह अनजान प्रियतम उस से कैसा व्यवहार करेगा, वह तो इस विषय में बिलकुल अनाड़ी है । परमात्मा से मिलन के पूर्व की स्थिति का चित्रण संतों ने कुमारी कन्या के प्रतीक के रूप में स्पष्ट किया है ।

2. विवाहिता सुन्दरी :- जब आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है अर्थात् साक्षात्कार होता है, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान होता है तब आत्मा उस के दर्शन के लिए व्याकुल रहती है, तड़पती है, छटपटाती है । संकोच को सिहरन:- पति मिलन से पूर्व कबीर की आत्मा रूपी नायिका का हृदय संकोच से सिहर उठता है । वह अपनी मलिनता के कारण पति के चरणों का स्पर्श करने में भी संकोच करती है । [1]

अपनी साधन हीनता का विचार मात्र उसे संशय मे डालता है, वह सोंचती है कि उसका पति उसे अपनायेगा या नहीं, वह उस से मिलने का साहस कैसे करेगी । [2]

मिलन स्थान :- संतों के लिए प्रियतम से मिलने का कोई विशेष स्थान नहीं है । प्रत्येक स्थान ही उनके लिए मिलन स्थल है । परम प्रियतम के जहां दर्शन हो जाते है वही तीर्थ स्थान है ।

---

1. जा कारण मै ढूंढता सनमुख मिलिया आइ
   धन मैली पिव उजाला लागिन सब को पाई ।। क.ग्र.

2. मन प्रतीत न प्रेम रस, नाइस तन मे ढंग
   का जाणो उस पीव सुं कैसे रहगी संग ।। क.ग्र.

अज्ञानी लोग इस बात को समझे बिना तीर्थ स्थानों को जाते हैं । [1]

मिलन : प्रेमाभक्ति की दशा का अंत आत्मा परमात्मा के मिलन में होता है, इस मिलन का आनन्द अनिर्वचनीय है । [2]

संतों ने पतिव्रता स्त्री के समान आत्मा की एकनिष्ठता, एकाधिकार और आत्म समर्पण की भावना का वर्णन किया है । आत्मा केवल अपने प्रिय परमात्मा को पाना चाहती है, उसकी सेवा तथा उसी से प्रेम एक पतिव्रता नारी के समान करती है । अपने प्रियतम (परमात्मा) के वियोग में आत्मा तड़पती है जिस प्रकार मछली जल के बिना प्राण त्याग देती है, मणि के बिना सर्प जीवित नहीं रहता, स्वाति बूँद को छोड़कर सीप और चातक कभी अन्य जल ग्रहण नहीं करते । जिस प्रकार सूर्य को देख कर कमल खिल उठता है, चन्द्रमा को देखकर चकोर प्रसन्न होता है उसी प्रकार आत्मा रूपी नारी केवल अपने प्रिय परमात्मा को देखकर प्रसन्न होती है ।

3. विरहिणी :- आत्मा परमात्मा से बिछुड़कर व्याकुल है विरह में वह तड़पती है । आत्मा विरहिणी की भांति परमात्मा के वियोग में दुखी है । संतों ने विरह का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक रूप से किया है । विरहावस्था में आत्मा परम पुरुष से शीघ्र ही मिलने के लिए विनती करती है और कहती है कि यदि ऐसा न हुआ तो वह अपने प्राण त्याग देगी । [3]

---

1. जा कारण मै जाइ था सोइ पाइ ठौर
   सोई फिर आपण भया, जासू कहता और । क. ग्र.
2. कबीर देख्या एक अंग महिमा कहि नजाइ
   तेज पुंज पारस नाणी,
   नैनन रहा समाई । क. ग्र.
3. कबीर सुन्दरियो कहै, सुणि हो कंत सुजान
   बेगि मिलौ तुम आइ करि, नाही तर तजौ पराण । क. ग्र.

4. सती :- संतों की आत्मा रूपी नायिका का चतुर्थ रूप सती का है । विरहिणी आत्मा की अंतिम इच्छा अपने प्रिय के साथ जल मरने की है । उसे मरने से डर नहीं है अपने प्रेम को सच्चा सिद्ध करने के लिए वह पति के साथ चिता पर जलने के लिए प्रस्तुत है ।[1]

संत पल्टूदास इसी सती की सराहना करते हैं जो अपने प्रिय के साथ जल सके । उसी नारी को वे सयानी नारी कहते हैं ।[2]

अतः निर्गुण संप्रदाय के संतों ने अपनी भक्ति को प्रेम और श्रृंगार से पूर्ण व्यक्त किया है । प्रेम की गहनता को बताने के लिए इन संतों ने दाम्पत्य प्रतीकों का प्रयोग किया है । प्रेम का मुख्य अंग एकनिष्ठता और समर्पण की भावना है । इसी कारण निर्गुण संप्रदाय के कवियों ने भारतीय नारी को प्रेम पात्र बनाकर अपनी भक्ति को दर्शाया है । पूर्ण समर्पण त्याग और अनन्य प्रेम केवल नारी अर्थात् पत्नी, प्रिया ही कर सकती है । इन संतों ने नारी की गहन संवेदना, अटूट विश्वास, चिर संबंध कठोर पतिव्रत धर्म और विरह वेदना को लेकर भक्त के अनोखे व्यक्तित्व का प्रदर्शन अपने साहित्य में किया है । मादक अनुभूतियाँ लेकर अपने शरीर को प्रेम की डोर से बाँधे संत इस संसारिक भोगों को तुच्छ समझते है । आत्मा अपना सर्वस्व लेकर प्रभु परमात्मा के समक्ष आत्म समर्पण कर देती है । वह कहती है जो कुछ भी उसके पास है वह उसी परम ब्रह्म का दिया हुआ है, अर्थात् आत्मा जो अपने पंच तत्व से शरीर के कारण परमात्मा से विलग हो गयी थी वह स्वयं को मिटा कर ब्रह्म के साथ एकाकार करना चाहती है ।[3]

---

1. सती बिचारी सत किया, काठों सेज बिछाइ
   ले सुती पिय आपणां, चहुं दिसी अग्नि लगाइ ।।
2. सोई सती सराहिये, जरे पिया के साथ ।
   जो पिया के साथ सोइ है नारि सयानि ।। पल्टूदास – हि. सं. का. पृ. 213
3. मेरा मुझ मे कुछ नहीं, जो कुछ है तो तेरा है ।
   तेरा तुझ को सौंपता क्या लागत है मेरा । क. ग्रं. 1113

संतों की भक्ति का विशेष तत्व प्रेम है । यह प्रेम निष्ठा और अहंकार के त्याग से ही संभव हो सकता है । प्रेम की अनन्यता को बताने के लिए इन संतों ने दाम्पत्य भाव या माधुर्य भाव को ही मुख्यत: ग्रहण किया है । इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रेम की अनन्यता, घनिष्ठता तथा मादकता जितनी पति-पत्नी के प्रेम में है अन्यत्र किसी और संबंध में नहीं । पति-पत्नी का प्रेम विशिष्ट होता है, उस में इन्द्रियाँ केवल अपने आराध्य को ही खोजती है, उसी को पाने की इच्छा करती है तथा उसी पर अपना सर्वस्व लुटाना चाहती है । इन संतों ने अलौकिक प्रेम को व्यक्त करने के लिए लौकिक प्रतीकों का सहारा लिया और वे अपने भावों को अभिव्यक्ति करने में सफल भी हुए । उनके प्रेम में अहं का त्याग, आत्म समर्पण की भावना, अनन्यता तथा एकाधिकार संपूर्ण काव्य में दिखाई देता है । शब्दों के माध्यम से निर्गुण निराकार को साकार रूप देकर संतों ने अपनी भक्ति को सरल और रस से पूर्ण बनाया । अत: निर्गुण संप्रदाय के संत साहित्य में प्रेम तत्व अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

निर्गुण संप्रदाय के प्रवर्तक कबीर :

निर्गुण संप्रदाय के संतों में कबीर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उन्हे इस संप्रदाय का प्रवर्तक कवि माना जाता है । कबीर ने पूर्व परंपरा को ग्रहण करते हुए वैष्णव भक्ति के अनेक तत्व अपनाये हैं । उनकी भक्ति वैष्णव, अद्वैतवाद और सूफियों के रहस्यवाद का मिश्रित रूप है । कबीर ने भक्ति प्रतिपादन में ज्ञान के स्थान पर प्रेम को महत्व दिया है ।

कबीर का प्रेम तत्व :

कबीर ने अगम्य, अगोचर, निरंजन भगवान को प्राप्त करने के लिए प्रेम पथ पर चलने का उपदेश दिया है । प्रेम तर्क का विषय नहीं हृदय की निधि है, बुद्धि के बल पर उसे प्राप्त करना संभव नहीं है ।ज्ञान सब कुछ मिला कर भी अज्ञानता का परिचय देता है और प्रेम संपूर्ण त्रुटियों, कमियों और अभावों को पूर्ण करता है ।

संसार में जो कुछ हो रहा है वह उस परम ब्रह्म द्वारा ही हो रहा है । भगवान आनन्द स्वरूप और प्रेम मय है अर्थात् उसे प्रेम से ही पाया जा सकता है ।

कबीर ने प्रियतम (परमात्मा) को पाने के लिए प्रेम साधना का मार्ग चुना है । ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व दिया है यथा ----

पोथि पढि पढि जग मुआ पंडित भया न कोय

ढाई आखर प्रेम का पढै सो पंडित होय ।।

परन्तु प्रेम करना इतना सरल नहीं है । यह प्रेम का व्यापार खाला का घर नहीं है इस को पाने के लिए शीष उतार कर रखना पड़ता है अर्थात् अहं भाव को त्याग कर ही प्रेम प्राप्त किया जा सकता है । [1]

कबीर दास का अपने प्रिय के प्रति अखंड विश्वास ही उनकी कविता की असाधारण शक्ति है । उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं । उनके प्रेम में मस्ती, स्वाधीनता, विश्वास और गहरी अनुभूति है । भक्ति के लिए अनन्य प्रेम और आत्म समर्पण आवश्यक है । उन्होंने अपना सब कुछ अपने प्रिय पर न्यौछावर कर दिया । परमात्मा के बिना उन्हे किसी क्षण चैन नहीं है । परमात्मा वियोग में आत्मा तड़प रही है । उसका शरीर सूख गया है और नैन राह देखते हुए थक गये हैं ।

उपासक और उपास्य में यह प्रेम भाव शुद्ध आध्यात्मिक है । यह संबंध प्रेम और स्नेह का है जो जीवात्मा का परमात्मा के प्रति स्वाभाविक है । यह प्रेम ही सब कुछ है । प्रेम संसार के समस्त बाह्यचारों से ऊंचा है, प्रेम ही साध्य है और प्रेम ही साधन । कबीर की भक्ति साधना का केन्द्र बिन्दु प्रेम लीला है ।

---

1. कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहि

सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घर माहि

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध

सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ।

क. ग्र. पृ. 69

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "जो कुछ हो रहा है, जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सब भगवान की लीला है। उनकी इस लीला का स्वरूप व्यापक और विशाल है।[1]

प्रेम क्या है :-

जिस भाव द्वारा हमारे मन में कोमल, निर्मल तथा स्वच्छ भाव की गहरी छाप लगी होती है उसी के गाढ़े रूप का नाम "प्रेम" है। जब भक्ति प्रगाढ़ावस्था में पहुंचती है तब साधक प्रेम साधना में अनुरक्त होकर भगवान के दर्शन करता है। कबीर ने इसी प्रेम तत्व को ग्रहण किया है। प्रेम का मार्ग पतिव्रता का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने के पहले मन को शुद्ध करना और सांसारिक माया मोह के बंधन को त्यागना आवश्यक है। सच्चा प्रेम स्वयं को मिटा कर ही प्राप्त किया जाता है। इस प्रेम का चरम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति है। आत्मा और परमात्मा का प्रेम एक दूसरे का पूरक है।

ईश्वर से प्रेम करना, प्रेमानुभूति द्वारा उसका साक्षात्कार करना और उसकी सत्ता में अपनी सत्ता को विलय करना ही कबीर की प्रेम साधना है। कबीर ने इसी प्रेम को लौकिक दृष्टान्त के माध्यम से व्यक्त किया है। उन्होने इस प्रेम को प्रतीकों के सहारे साकार रूप प्रदान किया है।

इस बात से यह स्पष्ट है कि लौकिक प्रेम जब उच्च, पवित्र और व्यापक भाव-भूमि पर पहुंचता है तो ईश्वरीय प्रेम में परिणत होता है।

प्रेम मानव जीवन की दिव्य विभूति है। प्रेम का अधिकारी वही हो सकता है जो इस मार्ग में सब कुछ सहने के लिए तत्पर हो। प्रेम की स्थिति मरने से भी कठिन होती है। वास्तव में प्रेम के रहस्य को वही जान सकता है जो उसके लिए आत्म बलिदान कर सके। प्रेम का माधुर्य विरह है। विरह प्रेम का चरम सौन्दर्य है। कबीर में भी विरह की अनुभूति तीव्र है। विरह वास्तव में प्रेम का मापदण्ड है। प्रेम का मूल त्याग है। प्रेम में अहंकार को त्यागना अनिवार्य है।

---

1. कबीर, ह.प्र. द्वि-पृ.

कबीर ने अपने इसी प्रेम की अभिव्यक्ति दाम्पत्य मधुर भाव में की है। अपने इष्ट देव के साथ जितनी निकटता एवं घनिष्टता का संबंध दाम्पत्य भाव में हो सकता है उतना किसी अन्य भाव मे नहीं। लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में परिवर्तित होकर जीवोन्मुखी से ईश्वरोन्मुखी हो जाता है। पति-पत्नी का प्रेम गूढ होता है वैसा प्रेम किसी दूसरे रिश्ते-नाते में नहीं होता। दाम्पत्य भाव अत्यन्त मधुर और भावात्मक है। भक्त के हृदय में पहले प्रेमोदय होता है इस प्रेमोदय का कारण बहुत कुछ वैयक्तिक होता है। कबीर में प्रेम का उत्पन्न भगवान के साक्षात्कार से हुआ है। भगवान के साक्षात्कार के बाद उससे मिलने की इच्छा जागृत होती है और उसका अंत मिलन में होता है। प्रेम मार्गी साधना का तात्पर्य है अध्यात्म के प्रति वैसा ही तीव्र आकर्षण जैसा कामी को नारी के प्रति होता है। इस आकर्षण में मन, हृदय दोनों प्रेम तत्व से तन्मय, एक या अभिन्न हो जाते है। जैसा समर्पण, सान्द्र प्रेम एवं जितनी एकात्मानुभूति स्त्री-पुरुष के प्रेम में होती है उतनी अन्यत्र नहीं। स्त्री-पुरुष के मध्य की काम भावना जीवन की गहनतम, और सार्वभौम वृत्ति है। पत्नी सेवा भी करती है, सखा की भांति मनोरंजन भी करती है, एवं पत्नी के रूप में अपना संपूर्ण व्यक्तित्व पति को समर्पित करती है। प्रेम भाव की यह सर्वोच्च अवस्था है।

प्रेम मार्ग में हृदय स्वाभाविक उमंग के साथ अध्यात्म तत्व की ओर खींचता है उसे हठपूर्वक लगाना नहीं पड़ता। प्रीति में अधिक आकर्षण है। प्रेम भाव की सर्वोत्तम परिणति माधुर्य भाव में होती है। भगवान के प्रति भक्त की तन्मयता और अन्तरंगता पति-पत्नी के जैसी होती है। इस संदर्भ में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का कथन उपयुक्त है कि पति-पत्नी का भाव वास्तव में प्रेम की पराकाष्ठा का सूचक है। यही वह दशा है जिस मे विशुद्ध, निःसीम एवं निरुपाधिक रूप की उपलब्धि होती है जिसका अंतिम परिणाम स्वात्मार्पण द्वारा अभेद भाव की अनुभूति है।

---

1. परशुराम चतुर्वेदी - संत काव्य पृ. 125

अर्थात् प्रेम की पराकाष्ठा अपने आपको समर्पित करने में है । उस प्रेम की अनुभूति निराली है । प्रेम में आत्म समर्पण का भाव अनिवार्य है । बिना आत्म समर्पण के प्रिय को नहीं पाया जा सकता । यह भाव पुरुषों से अधिक सरल हृदया नारियों में होता है । इसीलिए कबीर ने अपने प्रेम की अभिव्यक्ति आत्मा रूपी नारी के विभिन्न रूपों मे की है । कहीं वे दुलहिन बनते है, तो कहीं पत्नी, कहीं विरहाग्नि में तड़पती हुई विरहिणी तो कहीं प्रेमिका । प्रियतम अथवा परमात्मा को पाने के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करना, तन, मन, सुख, संतोष आदि आवश्यक है । और इस समर्पण के बदले प्रिय से वह कुछ नहीं चाहती ।

प्रेम मार्ग में स्त्री और पुरुष का प्रतीक सब से महत्वपूर्ण माना जाता है । स्त्री से बढ़कर प्रेममय और मधुर प्रतीक इस लोक में दूसरा नहीं । प्रेम के मार्ग में रस की मधुरता और विरह की अग्नि दोनों साथ साथ रहते है जैसे दिन और रात ।

प्रेम तत्व की पूर्णता और अनन्यता प्रियतम के प्रति एकनिष्ठ भाव के उदय में होती है । प्रेम अद्वैतता की सिद्धि की ओर ले जाता है । प्रिय का निरन्तर ध्यान करते हुए प्रेमी उससे मिलने की अभिलाषा करता है । कई मानसिक स्थितियों को पार करते हुए वह एकात्म भाव स्थापित करने में सफल होता है । इन स्थितियों में प्रथम अवस्था ईश्वर या प्रियतम के साक्षात दर्शन की है इस के बाद आत्मा इस प्रेम रस का खुमार कभी उतरने वाला नहीं है ।

हरि रस पीया जाणिये जे कबहुं न जाये खुमार

कबीर की अध्यात्म साधना और काव्य साधना का मध्य बिन्दु आत्मा परमात्मा के विलास और प्रेम का उत्कर्ष है । यहां संयोग, वियोग, विवाह आदि अनेक क्रियाएँ लौकिक रूप में होते हुए भी अलौकिक दशा का वर्णन है । इस प्रेम का संयोग आध्यात्मिक विवाह कहलाता है ।

आध्यात्मिक विवाह :

आत्मा परमात्मा के मिलाप का कारण प्रेम है । प्रेम के कारण ही आत्मा परमात्मा से मिलने की इच्छा करती है । इस प्रेम में एक प्रकार की मादकता होती है । प्रेम की उत्तेजना के कारण इन्द्रियाँ प्रिय को खोजने लगती है । प्रेम के कारण ही आत्मा में विह्वलता, व्याकुलता, व्यग्रता आ जाती है । मन में प्रिय के प्रति आकर्षण, अनुराग, जागृत होता हैं । इस प्रकार के प्रेम की पूर्णता एक ही संबंध में हो सकती है और वह संबंध पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता । कबीर के इस प्रकार के प्रेम पर रहस्यवाद और सूफीमत का प्रभाव है जहां आत्मा और परमात्मा के प्रेम की पूर्णता ही प्रधान है । ब्रह्म और जीव, परमात्मा तथा आत्मा पति तथा पत्नी दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । इस प्रेम की पूर्ति तभी संभव है जब प्रियतम के दर्शन के लिए व्याकुल होती है । उसे देखने की तीव्र इच्छा जागृत होती है । इस अवस्था में प्रेमी प्रिय के बिछोह में तड़पता रहता है, यह विरहाग्नि असहनीय हो जाती है । विरहाग्नि में तप्त होने के पश्चात मिलन की स्थिति आती है । यह मिलन चिर मिलन होता है जहां आत्मा परमात्मा एक हो जाते हैं ।

प्रेम के अनन्य उपासक कबीर ने जीवात्मा और परमात्मा के दाम्पत्य भाव, शाश्वत प्रणय विलास, चिरन्तन आनन्द केलि की अनेक उद्भावनाएँ प्रकट की है । उन्होने परमात्मा को अपना पति और स्वयं को उनकी पत्नी माना है । और वे इस प्रेम में पागल हो उठे है । वे स्वयं कहते हैं कि हरि उनका पति है ।

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा जीव

जब आत्मा परमात्मा के इस रस का पान करती है तो उस की स्थिति अद्भुत हो जाती है । इस का वर्णन करना असंभव है जिस प्रकार गूंगा गुड़ का स्वाद व्यक्त नहीं कर सकता केवल मुसका के रह जाता है । ऐसी ही स्थिति कबीर की है । आत्मा और परमात्मा में पति-पत्नी का संबंध स्थापित हो जाय । बिना यह संबंध स्थापित हुए पवित्र प्रेम मे पूर्णता नहीं आ सकती । हृदय के भावों की व्यंजना के बिना प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती ।

आत्मा और परमात्मा का एक दूसरे में समा जाना ही पूर्णता है । प्रेम की समस्त व्यंजनाएँ और व्याख्याएँ पति-पत्नी के संबंध में निहित है । इसीलिए आत्मा परमात्मा के इस प्रेम की व्यजंना करने के लिए कबीर ने पति-पत्नी के संबंध को प्रस्तुत किया । रहस्यवाद के इस प्रेम में आत्मा स्त्री बन कर परमात्मा के लिए तड़पती है । इनका संयोग आध्यात्मिक विवाह के रूप में होता है । जब तक संयोग नहीं होता आत्मा विरहिणी बन कर तड़पती फिरती है । प्रियतम की राह देखते देखते उसकीआँखें थक जाती है । वह मार्ग में हर पथिक से अपने प्रिय के बारे मे पूछती है ।

आत्मा परमात्मा का मिलन कल्पना द्वारा कबीर ने किया है । कबीर ने एक विवाह की परिकल्पना करते हुए प्रतीकों द्वारा आध्यात्मिक मिलन का वर्णन किया है ।

दुलहिनि गांवहु मगलचार ।

इस विवाह के बाद पत्नी रूपी आत्मा अपनी सारी भावनाएँ एवं शक्तियाँ अपने प्रियतम को समर्पित कर देती है और पत्नी के समान आज्ञाकारिणीव्यवहार करने लगती है । प्रियतम के सान्निध्य से आत्मा में हर्ष माधुर्य से पूर्ण प्रेम की अद्भुत धारा प्रवाहित होती है और वह उसी मधुरिमा में अपने अस्तित्व को समाप्त कर देती है । यही आध्यात्मिक विवाह है ।

रहस्यवाद में प्रणय भावना की प्रमुख प्रवृत्ति होती है । इस प्रणय भावना के दो भेद होते है । संयोग और वियोग । कबीर में अपने उपास्य के प्रति इन दोनों भावों की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति पायी गयी है । लौकिक प्रणय के द्वारा अलौकिक प्रणय की व्यंजना को मूर्त रूप देने के लिए कबीर ने उपमा, रूपक तथा प्रतीकों का आश्रय लिया है ।

वियोग की भावना :

जब प्रियतम अर्थात् परमात्मा के दर्शन होते है तो उसे प्राप्त करने की तीव्र इच्छा आत्मा में जागती है । उस परम प्रियतम से मिलने के लिए आत्मा अत्यन्त व्यथित दिखाई देती है । विरह प्रेम की कसौटी है । सच्चे प्रेम की परख विरहावस्था में ही होती है ।

प्रेम चाहे जैसे भी उत्पन्न हुआ हो उस में कष्ट, पीड़ा तो सहन करना ही पड़ता है । कबीर की आत्मा भी इन्ही कष्टों को झेलती हुई परमात्मा के सन्निकट पहुंचना चाहती है । परम तत्व को प्राप्त करने के लिए ही कबीर की आत्मा विरहिणी के रूप में परमात्मा से मिलन के लिए व्याकुल है ।

कबीर ने इस विरह को बड़े मार्मिक एवं सरस ढंग से अभिव्यक्ति की है । उन की विरह वेदना अलौकिक है जिसे उन्होने कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत किया है । जैसे --

विरहिन अभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाई
एक शब्द कहि पीव का, कब मिलेंगे आई ।।

इस साखी में विरहिणी रूपी आत्मा परमात्मा के विरह में पागल है । और वह हर आने-जाने पथिक से प्रियतम के बारे में पूछ रही है ।

साधक की आत्मा कभी विरहिणी बन कर पथिकों से परमात्मा के बारे में पूछती है तो कभी प्रियतम की प्रतीक्षा में उसके प्राण एवं मन अत्यन्त बेचैन हो जाते हैं । वह कभी प्रियतम को पत्र लिखती है तो कभी अपने को विरहाग्नि में जला कर परमात्मा तक धुआं पहुंचाने का प्रयास करती है ।

यह तन जालौं मसि करौं, ज्यूं धुवां जाई सरगी ।

कबीर की विरह वेदना इतनी बढ़ गयी है कि वह वर्णातीत है । उनका कहना है कि इस विरह को केवल वही जान सकता है जिसे यह व्यथा भोगना पड़ रहा है और दूसरा वह जो इस व्यथा को सह रही है ।

जीवात्मा रूपी विरहिणी को अदभुत संकटों का सामना करना पड़ता है वह न ही खुलकर रो सकती है और न हँस सकती है ।

प्रेम साधना के अंतर्गत विरह का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रेमानुभूति तीव्रता मिलन की अपेक्षा विरह में अधिक होती है । और कबीर में विरह की अनुभूति चरमावस्था तक पहुंची है । ज्यों ज्यों मिलन की चाह बढ़ती है, विरह की असह्य बेचैनी भी बढ़ती जाती है । जन्म-जन्मान्तर का बिछुड़ा प्रिय किस तरह मिलेगा आत्मा केवल इस मिलन के बारे मे ही सोचती है । जिस तरह मछली जल से विलग होकर तड़पती है उसी प्रकार कबीर की आत्मा भी परमात्मा से अलग होने के कारण तड़प रही है ।

कबीर को भक्ति में सब से अधिक विभोर कर देने वाला दाम्पत्य भाव का विरह है । कबीर इस विरह भाव में निमग्न हो जाते हैं । उनकी इस विरह की अभिव्यक्ति "विरह कौ अंग" "प्रेम कौ अंग" आदि शीर्षक पदों में की गयी है । कबीर के वियोग कीअन्तर्दशाओं के अंतर्गत जागरण, व्यग्रता, अश्रु, उद्वेग, विस्मृति आदि दशाओं का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है । आत्मा परमात्मा के वियोग को लौकिक दृष्टांत दे कर अलौकिक विरहानुभूति को कबीर ने सुन्दर, सरस ढंग से प्रस्तुत किया है ।

संयोग या चिरमिलन :

आत्मा की तीव्र विरह वेदना के बाद मिलन की या संयोग की स्थिति आती है । इस मिलन में आत्मा शान्ति का अनुभव करती है । प्रेम की चरम सीमा प्रियतम को प्राप्त करना है । कबीर कहते है हे सौभाग्यवती नारीयों विवाह के मंगल गीत गाओ क्योंकि आज प्रभु स्वयं मेरे द्वार पधारे है और मैं इस विवाह द्वारा उनकी पत्नी बनने जा रही हूं इस शुभ अवसर पर आशीर्वाद देने के लिए ऋषि और मुनि स्वयं आये हैं । इस विवाह के साथ आत्मा-परमात्मा चिर मिलन की स्थिति को प्राप्त करते है । इस मिलन के उपरान्त आत्मा कहती है ।

"अब तोहि जान न देहूं राम प्यारे ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे"

अर्थात् परमात्मा से मिलन के बाद आत्मा उस से क्षण भर के लिए अलग होना नहीं चाहती । वह कहती है प्रीतम मैं अब तुम्हे जाने नहीं दूंगी ।

इस साखी द्वारा कबीर की अनन्य प्रेमाभिव्यक्ति का परिचय मिलता है । उन्होने अलौकिक भाव को लौकिक भाषा, भाव और शब्दावली द्वारा प्रस्तुत किया है । जिस प्रकार बहुत दिनों के बाद प्रियतम के मिलने पर पत्नी उसे जाने नहीं देती, उसे अपने पास रखना चाहती है उसी प्रकार आत्मा परमात्मा से मिलने पर उस से बिछुडना नहीं चाहती । कबीर ने अप्रस्तुत भाव को प्रस्तुत भाव द्वारा बड़े सहज सरल स्वभाव के साथ व्यक्त किया है ।

परमात्मा की इस प्राप्ति से आत्मा आनन्द का अनुभव करती है । उसका निवास एक विचित्र लोक में होता है । इस परम स्थिति को प्राप्त करने के लिए स्वयं साधक को साधना करनी पड़ती है ।

कबीर ने मिलन अवस्था का रूपक बांधते हुए स्वयं को राम की बहुरिया कहा है । जिस प्रकार विवाह के बाद पति-पत्नी परस्पर मिलते हैं उसी प्रकार अत्यन्त प्रेम पूर्वक आत्मा-परमात्मा का मिलन हो रहा है । उस मिलन में सांसारिक वासना की गंध नहीं अपितु आध्यात्मिक अनुभूति की सुगंध है । प्रियतमा अपने प्रियतम को तन,मन अर्पित कर देती है । उन दोनों का भेद मिट गया है । युग युग से बिछुड़ी हुई आत्मा का अपने प्रियतम (परमात्मा) से संयोग हो गया है । वह कहती है ---

बहुत दिन न से प्रियतम पाये, भाग बड़े घर बैठे आये
मंदिर मांहि भया उजियारा, लै सूती अपना पियारा

प्रियतम अर्थात् परमात्मा आत्मा को अपनाने के कारण उसे अपने मन में उल्लास तथा आनन्द की अनुभूति होने लगती है । प्रत्येक वस्तु इस अनुभूति से उज्जवल और दीप्तीमान लगने लगी है । आत्मा जानती है कि उस का प्रियतम (परमात्मा) अमर एवं अविनाशी है, अब उसे कोई नहीं मार सकता अर्थात् आत्मा अपने शरीर का त्याग कर के ही परमात्मा में विलीन हुई है । रहस्यवादी प्रेम की यही अंतिम स्थिति है, जहां साधक साध्य, आत्मा परमात्मा, भक्त- भगवान और प्रिया-प्रियतम का द्वैत समाप्त हो जाता है और दोनों में अद्वैतभाव की स्थापना हो जाती है ।

इस प्रकार आत्मा स्वयं ब्रह्ममय हो जाती है उसे प्रकृति केकण-कण में ब्रह्म के दर्शन होने लगते है -- जैसे ---

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल
लाली देखन मै गयी, मै भी हो गयी लाल ।।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति मूलत: प्रेम और भावात्मक रहस्यवाद पर ही आधारित है । प्रेम को उन्होंने मानव-जीवन की सर्वाधिक प्रभावशाली,व्यापक एवं दिव्य शक्ति के रूप में महत्त्व दिया है ।

प्रेम ही मनुष्य को देवत्व प्रदान करता है । प्रेम ही ईश्वर है । यह सृष्टि का रूप प्रेम ही है । प्रेम या इश्क के बिना संसार की कोई भी वस्तु में रुचि नहीं हो सकती । प्रेम ही मनुष्य को अमर बना देता है । प्रभु ने सृष्टि की रचना प्रेम के कारण ही की है । कबीर दास जी कहते है कि जिसने प्रेम रस को नहीं तख्या वह सूने घर का पाहन है । वह जैसे इस लोक में आया है वैसे ही चला जाएगा । कबीर का प्रेम लौकिक होते हुए भी अलौकिक है । इस प्रेम को प्राप्त करने के लिए सिर का बलिदान करना पड़ता है ।

प्रेम का आवश्यक तत्व समर्पण है । प्रेमी अपना सर्वस्व प्रियतम पर समर्पित करने के लिए तत्पर रहता है । प्रेम द्वैत को अद्वैत कर देता है । प्रेम ऐसा अमर एवं शाश्वत सत्य है जिसका सूर्य कभी अस्त नहीं होता । प्रेम मार्ग के पथिक के लिए हृदय की पवित्रता परम आवश्यक है ।

कबीर में एक सफल साधक या प्रेमी के सभी लक्षण पाये जाते है । उनका प्रेम दाम्पत्य भाव का सर्वोत्कृष्ट रूप है । जीवात्मा रूपी प्रेयसी और परमात्मा रूपी प्रियतम के प्रेममय, आनन्दमय शाश्वत प्रणय लीला का रस पान करना ही कबीर की प्रेम साधना का एक मात्र लक्ष्य है । आत्मा परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय, मिलन प्रसंग विरह वेदना आदि भावों का कबीर ने उत्कट वर्णन किया है । ""राम" को अपना "पिउ" और अपने को उनकी "बहुरिया" के रूप मे उनकी परिकल्पना भक्ति रस की सुन्दर भाव दशा है ।

इस प्रकार आत्मा परमात्मा की प्रेम लीला का रसास्वादन करना ही उनकी प्रेम साधना का परम लक्ष्य है । उन्होने अपने इसी प्रेम की अभिव्यक्ति साखि, पदावली में प्रेम प्रतीकों के माध्यम से की है । उनके प्रेम प्रतीक दाम्पत्य भाव, पतिव्रता भाव, चातक भाव, मछली, कुमुदिनी आदि अनेक रूपो में व्यक्त हुए हैं । इस प्रकार प्रतीकों के माध्यम से उन्होने अपने प्रेम तत्व को काव्य में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है जिससे काव्य में रसानुभूति का उद्भव हुआ है । इस अभिव्यक्ति में स्वाभाविकाता, सरलता एवं स्पष्टता परिलक्षित होती है । उनकी प्रतीक योजना काव्याभिव्यंजना में चार चांद लगा देती है ।

चतुर्थ अध्याय

निर्गुण मत में लीला की अवधारणा एवं स्वरूप

1. लीला क्या है
I. लीला अर्थ विमर्श
II. काव्यशास्त्रपरक अर्थ
III. दर्शन परक अर्थ
2. लीला व्युत्पत्ति परक अर्थ
I. वैदिक वाड़्मय में लीला
3. निर्गुण की लीला कैसी
I. अलौकिक लीला
II. सृष्टि और लीला विस्तार
III. अवतारी लीला
4. कबीर की निर्गुण प्रेम लीला
4. I. प्रेम लीला संबंधी पद (कबीर ग्रंथावली तथा "कबीर"-- हजारी प्रसाद द्विवेदी से उद्धृत किये गये)

निर्गुण मत में लीला की अवधारणा एवं स्वरूप

लीला क्या है :

वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्गी भक्ति सिद्धान्तों के आधार पर "श्रीमद्भागवत" के तृतीय स्कन्ध की "सुबोधिनी टीका" में भगवान् की लीला की व्याख्या की है । "विलास की इच्छा का ही नाम लीला" है । "कार्यव्यतिरेकेसे:" अर्थात् कार्य से रहित यह कृतिमात्र है । इस कृति के बाहर कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता । उत्पन्न किये गये कार्य में कोई अभिप्राय नहीं होता । उसमें कर्ता का कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं होता , किन्तु अन्तःकरण के पूर्ण आनन्द उल्लास से कार्योत्पत्ति के सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है । यही भगवान् की लीला है । लीला का आनन्द के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं होता । सृष्टि और प्रलय भी भगवान् की ही लीला है ।

लीला : अर्थ विमर्श :--

लीला शब्द का सामान्य अर्थ है क्रीड़ा अथवा खेल । पारिभाषिक शब्द के रूप में इस के श्रृंगार भाव चेष्टा , प्रियानुकरण, रहस्यपूर्ण व्यापार फलनिरपेक्ष प्रवृत्ति आदि अर्थ प्राप्त होते हैं ।/1/

श्रृंगार भावचेष्टा और प्रियानुकरण काव्यशास्त्र से संबंध अर्थ है ।

काव्यशास्त्र परक अर्थ:

लीला शब्द का अर्थ काव्यशास्त्र में नायिकाओं के सात्त्विक अलंकारों में से एक अलंकार विशेष का द्योतक है । यौवन में नायिकाओं को अट्ठाईस सात्त्विक अलंकार प्राप्त हो जाते हैं । जिस में लीला, विलास, विच्छिति आदि अठारह स्वभाव सिद्ध अलंकार होते हुए भी कृतिसाध्य होते हैं ।

/1/ " सर्व तत्वार्थ पदार्थ लक्षण संग्रह " -- पृ: 175 .

प्रियानुकरण भी श्रृंगारभाव है जो चेष्टा या कृतिसाध्य होने के कारण श्रृंगार भाव चेष्टा कहा गया है । /1/ प्रिया समगम को न प्राप्त कर सकने पर, प्रिया अपने मन को बहलाने के लिए प्रिय के वेश, गति, दृष्टि, हँसी और भाषण द्वारा जो प्रिय का अनुकरण करती है , उसे लीला कहते हैं । /2/

दर्शनपरक अर्थ :-

दर्शन अर्थ विशेष रहस्यगर्भित है । दार्शनिकों का यह प्रश्न है कि परमात्मा सृष्टि की रचना क्यों करता है ? इस कठिन प्रश्न का उत्तर "लीला" शब्द द्वारा दिया गया है । सृष्टि रचना के विषय में अनेक पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं । उनमें से एक पक्ष है यह सृष्टि क्रीडार्थ है । /3/ परमात्मा क्रीड़ा करते हुए ही असंख्य मन्वन्तरों की सृष्टि और संहार करते हैं । सृष्टि रचना परमात्मा का स्वभाव है क्योंकि पूर्ण की इच्छा ही क्या हो सकती है ।

श्री शंकराचार्य ने लीला का अर्थ दिया है -- बिना किसी अतिरिक्त प्रयोजन का स्पर्श प्राप्त किये क्रीड़ा विहार की प्रवृत्ति अथवा बिना किसी प्रयोजन के कार्य को लीला कहते हैं जिस प्रकार श्वास-उच्छ्वास स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसी प्रकार लीला भी स्वाभाविक प्रवृत्ति है ।

श्री रामानुज भी अवाप्त - सर्वकाम परिपूर्ण पुरुषोत्तम के सर्ग रचना के प्रयोजन को लीला ही मानते हैं । सुखोन्मत पुरुष जैसे सुख के उद्रेक से नृत्य आदि करने लगता है उसी प्रकार स्वरूपानन्द स्वभाव से ही भगवान् अन्यान्य लीलाओं की भाँति सृष्टि लीला भी करते हैं । उनका स्वभाव ही लीला करना है । अतः भगवान की स्वरूप शक्ति के विकास अथवा स्वरूपानन्द के उद्रेक का नाम लीला है ।

/1/ "साहित्यदर्पण" --पृ : 307.

/2/ "हलायुध कोश "--पृ: 579.

/3/ "माण्डूक्य कारिका"

श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि " श्रुतियाँ परमार्थ विषयिणी " नहीं है क्योंकि उनके अद्वैतवाद में सब नाम रूप भेद व्यवहार अविद्या कल्पित है । अतः सृष्टि विषयिणी श्रुतियों की सार्थकता अंश रूप अथवा गौण रूप में है । श्रुतियों का मुख्य प्रयोजन तो ब्रह्मात्म भाव अथवा जीव ब्रह्म के अभेद की प्रतीति कराना है । उनके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म जगत् का कारण नहीं उनकी अनिर्वचनीय स्वभाव माया जगत् का कारण है ।

श्री वल्लभाचार्य ने लीला को विलासेच्छा कहा है और उसकी व्याख्या इस प्रकार की है । "कार्य के बिना ही यह केवल व्यापार होता है अर्थात् इस कृति के द्वारा बाहर कोई कार्य उत्पन्न नहीं किया जाता । उत्पन्न किये गये कार्य में कोई भी अभिप्राय नहीं होता । भगवान् की विरुद्धधर्माश्रयता ही सभी लीलाओं की मूलभूत मौलिक लीला है । भगवान एक ही है किन्तु वह एक होकर भी अनेक रूप अपनाता है और अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों ही रहता है । वह स्वंय रसस्वरूप है ।

श्री वल्लभ ने भी सृष्टि की रचना का प्रयोजन लीला माना है और लीला को लीला के लिए माना है । उनके अनुसार लीला मोक्ष है । क्योंकि लीला का अनुचिन्तन करते हुए ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । {ब्रह्मसूत्र}

"रहस्यपूर्ण व्यापार " के अर्थ में लीला अघटित -घटन का पर्याय है । सृष्टि तथा परमात्मा को आश्चर्यकारिणी कृति कहा गया है । प्रकृति के प्रति आश्चर्य इसी अर्थ की ओर संकेत करता है ।

रहस्यपूर्ण व्यापार के अर्थ में लीला को अनिर्वचनीय स्थिति कहा गया है जिससे अनन्तता में एकता और एकता में अनन्तता घटित होती है । असीम में सीमा और सीमा में असीम होता है । उसी असीमता, सीमा और अनंतता की अनिर्वचनीय स्थिति को लीला कहा गया है ।

अनन्त रूपों में परिवर्तित हो सकने वाली एक सत्ता को ही ब्रह्म की माया कहा जाता है । एक का अनेकता में परिवर्तन और अनेकधा परिवर्तित का एक रूप में पुनर्विलय इन दो उपबंधों में ही सम्पूर्ण विश्व-सत्ता गतिशील है । ऐसा होना अनिवार्य है क्योंकि एक और अनेक वस्तुतः अनन्तता के मूलभूत रूप है . दिव्य स्वंय प्रकाश से प्रकाशित जो कुछ भी है वह अनन्त सत्ता का ही

सत्य है और इस सत्य की क्रीड़ा ही सत्य स्वरूप की लीला है ।

श्री अरविन्द की दृष्टि में एक तत्व का अनेक रूपों में प्रकट होना और अनेक रूपता प्राप्त करके भी अपने वास्तविक में रहना ही लीला है । श्री अरविन्द ने लीला के विविध अर्थों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है --- लीला का अर्थ है -- खेल, क्रीड़ा, विश्व क्रिड़ा, परमपुरूष का मनो विनोद, शिशु का उल्लास, कवि और अभिनेता का आनन्द, विश्व रचना के रचयिता, महायन्त्री का आनन्द जो सभी वस्तुओं की अभिनव रमणीय आत्मा है जो शाश्वत और अक्षय है और जो स्वंय अपने आपको ही आत्माभिव्यक्ति के लिए बार-बार आविष्कृत करता रहता है -- आनन्द का यह आत्म प्रस्तुतीकरण आत्मा है । वही स्वंय क्रीड़ा है, स्वंय क्रीड़ामय है और स्वंय ही क्रीड़ा भूमि है । "/1/ भगवान् के दिव्यजन्म और कर्म के लिए भी लीला शब्द का व्यवहार किया जाता है ।

लीला व्युत्पतिपरक विविध अर्थ :-

लीला शब्द के व्युत्पतिपरक अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं । व्युत्पति है-- {लयनमेव ली -- क्विप् प्रत्यय होने के पश्चात् ली धातु से ली शब्द निष्पन्न होता है} लियं =लयनमुलाति इति लीला, अर्थात् "ली" ही "लय" है, ली शब्द से आदानर्थक अथवा संपादानार्थक ला धातु के लाति या प्रेरणार्थक क्रिया रूप लाप्यति के ला अंश को लेकर लीला शब्द निष्पन्न होता है । "/2/

ली या "लय" शब्द के संश्लेष, प्रकृति का निरुद्ध परिणाम कार्य का कारण में समावेश, भाव अर्थात् निर्विकार चित्र भी प्रथम विकृति के मध्य स्थित काम "तौर्यत्रिक" {गति, वादय और नृत्य} का साम्य अर्थात् गति, वादय और हस्त पाद आदि के संचालन में क्रिया और काल की परस्पर समता सत्व, रजस और तम इन तीनों गुणों को परस्पर आवरणात्मकता अनेक अर्थ है ।

/1/ "A Glossary of Sanskrit terms in the Life Divine. P.19
/2/ "भागवत्- 7017175

शैव-अद्वैतवाद के अनुसार सृष्टि और लय की सापेक्षता है । जीव भाव में शिव भाव और शिव भाव में जीव भाव की विस्मृति हो जाती है । लय सृष्टि और स्थित के इन तीनों कृत्यों का मूल निग्रह या शक्ति कहलाती है । इसी को विलास कहते हैं । अतः ली+"क्विप" अर्थात् ली धातु में "क्विप" प्रत्यय के बाद "ला" धातु से क प्रत्यय लगाकर लीला शब्द बना है, जिसका अर्थ है केलि, विलास, श्रृंगार भावचेष्टा आदि ।"/1/ पद्म पुराण के अनुसार लीलाएँ दो प्रकार की है । प्रकट और अप्रकट । श्री भागवतामृत के अनुसार परमात्मा सदैव अपनी लीला द्वारा प्रकाशित होता है और अपने अंशों के साथ अवतार लेता है । प्रभु की लीला उसकी शक्ति ही है जो भिन्न-भिन्न भावों के द्वारा प्रकट होती है ।

वैदिक वाङ्मय में लीला :--

भगवान के गुण, कर्म, नाम, रूप और लीला की नित्यता मानते हुए वैष्णवाचार्यों ने उनकी वेद मूलकता सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है । ब्रह्म में स्पन्दित होने और न होने का श्रुतियों द्वारा किया गया वर्णन वस्तुतः ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता का ही द्योतक है । ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता ही सभी लीलाओं का मूल है । शंकराचार्य ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता को ब्रह्म के निरुपाधिक और सोपाधिक रूपों से संबंध मानते हैं । श्री शंकर ने भेदत्रय शून्य ब्रह्म को मूलतः निर्गुण निराकार मानते हुए उसके सगुण एवं साकार रूप को माया कहा है । भगवान का जगत् रूप में परिणत होना और अविकृत भी रहना, एक होकर भी अनेक होना, अजन्मा होकर भी जन्म लेना, ज्ञेय भी होना, ध्येय भी होना, सक्रिय होते हुए भी अक्रिय होना -- यह सभी ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता के कारण है ।

ब्रह्म की इस प्रकार की लीला का वेद और उपनिषदों में विशेष विशद वर्णन मिलता है । एक होते हुए भी अनेक रूपों में विलक्षित होना तथा सार्वभौम रूप में नज़र आना ही लीला है । इस लीला को परमात्मा का आनंद कहा गया है ।

/1/ " शब्द कल्पद्रुम, चतुर्थ भाग, पृः 124 .

परमात्मा ही स्त्री है, पुरुष है, कुमारी , कुमार, वृद्ध, वही माता-पिता और उनसे उत्पन्न पुत्र रूप भी वही है । इस प्रकार के अनेक मंत्रों द्वारा भगवान् की सर्वभवन शक्ति और सर्ग विसर्ग आदि लीलारूपता का परिचय प्राप्त होता है । परमात्मा का तत्तत्व पदार्थ में प्रविष्ट होना भी एक विशेष लीला है ।

भक्त और भगवान् के परस्पर भावात्मक संबंध को वेदानुमोदित सिद्ध करने का प्रयत्न डॉ. मुन्शीराम ने विशेष रूप से किया है । "भक्ति-तंरगिणी " नामक पुस्तक में उन्होंने सौ से अधिक मंत्रों द्वारा भक्त और भगवान् के भावात्मक संबंध का परिचय दिया है । यह संबंध ही भगवान् की अन्यसापेक्ष लीला का मूल है । प्रभु के साथ जीव के भाव संबंध की स्थापना वैसी ही है जैसे-- समुद्र से तरंग या बूँद , अग्नि से स्फुलिंग अथवा कनक से कुण्डलादि ।

प्रभु निर्गुण होते हुए भी सगुण है , सूक्ष्म होते हुए भी महान् है , निकट होते हुए भी दूर है , अचल होते हुए भी चल है , एक रस होते हुए भी विविध सृष्टियों के रचयिता है , आनन्दस्वरूप परमात्मा अपने ही आनन्द के लिए अनेक जीवों के रूप में एक से अनेक होता है और उन अपने अनेक रूपों द्वारा क्रीड़ा करता है । उसकी क्रीड़ा ही आनन्द स्वरूप लीला है ।

निर्गुण की लीला कैसी ?

सन्त अथवा निर्गुणधारा वाले भक्तों ने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अद्वितीय कहा है । यह निराकार एवं निर्गुण तत्व परमतत्व होते हुए भी बहुत दुर्बोध एवं गहन है । अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अकथनीय, अरूप अनादि अनन्त तत्व को पाना सरल नहीं । उसे पाने के लिए उसका कृपा पात्र होना आवश्यक है । वह जिस पर कृपा करता है, जिसे अपना लेता है उसके समक्ष अपने आप को सर्वथा अनावृत्त कर देता है । इस चिंतन ने भक्तों को भक्ति की ओर अग्रसर किया । भक्ति में द्वैत भाव होना आवश्यक है । उपास्य उपासक अथवा भक्त भगवान् का द्वैत है , निर्गुणियों के अनुसार द्वैत मायामूलक है ध्येय ब्रह्म तो

सोपाधिक है, उस निर्विशेष ब्रह्म ने भक्तिमार्ग में एक अवरोध उपस्थित कर दिया। निर्गुणधारा के संतों ने ईश्वर को गुणातीत मानते हुए भी उसमें प्रेम भावना का समावेश करके उसे हृदय ग्राह्य बना दिया। प्रेम स्वरूप परमात्मा केवल तत्व न होकर व्यक्तित्व प्रधान हो गया। प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी और प्रिय का होना अपेक्षित है। प्रिय और प्रेमी का व्यक्तित्व भी अवश्य होना चाहिए। इन संतों ने लौकिक प्रेम प्रतीकों के माध्यम से ईश्वर के साथ प्रेम लीला की है। स्वंय को परमात्मा की पत्नी, प्रेयसी, प्रिया, बहुरिया आदि मानकर परब्रह्म को पति के रूप में स्वीकार किया है।

अलौकिक लीला :-

प्रभु के नाम और रूप की भाँति ही उनकी लीला भी अनादि और अनन्त है। उपनिषद के अनुसार यह संपूर्ण विश्व ईश्वर का ही प्रतिरूप है। */1/ प्रभु के अलौकिक ऐश्वर्य को देखने की क्षमता न वेदों से न तप से, न दान से और न यज्ञ से प्राप्त हो सकती है। */2/ उस ऐश्वर्य को प्रेम से पूर्ण नेत्रों से ही देखा जा सकता है। सन्त काव्य में हरि लीला का यही अलौकिक रूप दृष्टिगोचर होता है, कबीर के शब्दों में चारों वेद, स्मृतियां, पुराण तथा व्याकरण शास्त्रादिक ज्ञान उसकी लीला समझने में सहायक नहीं हो सकते ।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, इन्द्र इस सबसे ऊपर है। इन सबके माध्यम से उसकी लीला का विस्तार-प्रसार होता है। लीला रूपी सागर अथाह है। कबीर के अनुसार प्रभु सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में नेपथ्य में छिपा हुआ अपनी अपार लीला का विस्तार कर रहा है। उसकी लीला सबको दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उसे कोई नहीं देख पाता। */3/

/1/ "पुरुष एवेदं विश्वं कर्मतपो ब्रह्म परमृतम् "--{ मुण्डकोपनिषद, उपनिषद प्रकाश, पृ:42.

/2/ " नाहं वे दैन तपसा न दानेन न चेज्यय ।
शक्य एवंविधौ द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। { श्रीमदभागवद गीता, 385. अध्याय ।। पृ: 3.

/3/ "लीला करि करि भेख फिरावा, ओट बहुत कछू कहत न आवा ।" ,क. ग्र. पृ:230.

यह स्वंय अलक्ष्य है और संसार के जीवों को उनके कर्मों के अनुसार लगा रखा है । वह कहाँ है किसी को उसका पता नहीं चलता, वह दूर होकर भी निकट है और निकट होकर भी दूर, कभी वह शीतल है तो कभी अग्नि के रूप में प्रज्वलित होकर प्रकाश करता है । सूर्य और चन्द्र में भी उसकी ही ज्योति प्रकाशित है । वह कभी जलनिधि और कभी स्थल बन कर नेत्रों के सम्मुख उद्भासित होता है । उसकी लीला के प्रभाव से वज्र से तृण बनता है और वह स्वंय प्रकृति के कण-कण में निवास करता है । उस अविगत की गति कोई नहीं जान सकता।-/1/ उस विराट पुरुष की लीला भी विराट है । उस की उपमा संसार की किसी भी वस्तु से नहीं दी जा सकती । जो लोग प्रभु को गोवर्द्धनधारी कह कर उसकी लीला करते हैं कबीर को उनकी बुद्धि पर आश्चर्य होता है क्योंकि जो स्वंय अपने नख पर अनेक पर्वतों को धारण किए हुए हैं । अष्टकुल के पर्वत जिसके पैरों की धूल है उसको गोवर्द्धनधारी जैसी छोटी उपमा कैसे शोभा दे सकती है । -/2/

सन्तों ने हरि को सर्वथा अतुलनीय और अनुपम माना है । कोटि सूर्य जिसका प्रकाश करते हैं, कोटि शंकर जिसकी सेवा मे है, कोटि दुर्गा जिसका अंग मर्दन करती है, कोटि ब्रह्मा वेद ध्वनि करते हैं , कोटि नवग्रह जिसके दरबार में खड़े हैं, कोटि वासुकि नाग जिसकी शैय्या सजाते हैं, कोटि सागर पानी भरने का कार्य करते है, छप्पन कोटि देवता, इन्द्र, कुबेर आदि जिसका गुणगान तथा सेवा करते हैं , कोटि कामदेव जिसकी तुलना में तुच्छ प्रतीत होते हैं , जिसके अन्तर्गत गोपाल कोटि कलाएँ धारण करके लीला करते हैं , फिर भी उस परब्रह्म परमेश्वर का अन्त नहीं मिलता ।-/3/

/1/ "नियर थैं दूरि दूरि थैं नियरा, राम चरित न जानियँ जियरा
....
गिरिवर छार छार गिरि होइ, अविगति गति जानै नहिं कोई । {क. ग्र. रमैणी} पृ:235.

/2/ "लोग कहै गोवरधनधारी, ताकौं मोंहि अचंभौ भारी ।।टेका
अष्ट कुली परबत जाके पग की रैना, सातौं सायर अंजननैना ।
....
वाको पार न पावैं ।। 335 । {क. ग्र. पृ: 207}

/3/ " कोटि सूर जाके परगास । कोटि महादेव अरु कविलास ।
....
अंतर अंतरि मनसा हरहि ।। {क. ग. प. 278-79}

कबीर द्वारा भगवान का लीला वर्णन श्रीमदभागवत के विराट रूप वर्णन से साम्य रखता है । जिस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -- हे पार्थ मेरे सैकड़ों तथा नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृति वाले अलौकिक रूपों को देख । हे भरत वंशी। बारह आदित्यों को आठ वसुओं को, एकादश रूद्रों को, दोनों अश्विनीकुमारों को, उनचास मरूदगणों को तथा बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्य मय रूपों को देख ।[/1/]

इस प्रकार सन्तों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म की अनादि, अनन्त लीला का विस्तार-प्रसार अखिल विश्व में सर्वत्र देखा है । वह लीला विहारी, सूक्ष्म रूप में अपनी लीला का संचालन करते हुए स्वंय अदृष्ट रहता है । उसे जानना कठिन है । भक्त केवल उसका गुणगान करके आनंद प्राप्त कर सकता है जो अनिर्वचनीय है ।

सृष्टि और लीला विस्तार :-

सर्वव्यापी ब्रह्म जब अपनी लीला करता है तब सृष्टि की रचना होती है । इस प्रकार ब्रह्म स्वंय ब्रह्म से खेलता है ।[/2/] कबीर कहते हैं संसार की रचना ब्रह्म ने निमित्त मात्र के लिए की है जिससे उसकी लीला का प्रसार विस्तारपूर्वक हो सके । तीनों लोक में एक ही ईश्वर की लीला का प्रसार है और जन्म-मरण का निरन्तर चलनेवाला चक्र उसी लीला का एक अंग है ।[/3/] उपनिषद के अनुसार परमात्मा सब काम में प्रत्येक स्थान में सर्वथा विद्यमान है । वह दूर है, निकट है, सबके अन्दर और सबके बाहर भी है ।[/4/]

/1/ "पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशो य सहस्त्रशः

....

मम देहे गुडा केश यच्चान्यद द्रष्टुमिच्छसि । { श्रीमदभगवदगीता , 77 वाँ अध्याय पृ: 345-347 .

/2/ " इनमें आप आप सबहिन में , आप आपसूं खेले ।
नानां भांति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेले । { क. ग्र. रमैणी, पृ: 151}

/3/ "हम सब मांहि सकल हम मांहि हमथै और दूसरा नाहिं ।

....

हमही आप कबीर कहावा, हमहिं अपनां आप लखावा ।" 332 . क. ग्र. पृ: 200-201.

/4/ "तदेजति तन्नैजति तद दूरेतदन्तिके ।
त दन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।। {ईशोपनिषद : पृ:14-15 .} उप. प्रकाश .

कबीर के राम भी सब में रमण करते हैं और सब जीव में रमते रहते हैं । अंतर केवल रूपात्मक लीला है । वह तो सहज भाव से सब में सर्वत्र और सब काल में विद्यमान रहता है । वह अपना विस्तार प्रसार त्रिगुणों की सहायता से करता है किन्तु वह स्वंय गुणों से परे हैं । वह उस ब्रह्म की ही लीला है जो पृथक् होते हुए भी एक है और सर्वत्र व्याप्त है । उसकी सत्ता का रहस्य जानना संभव नहीं है ।

अवतारी लीला :-

लोक में ईश्वर के अवतारों की मान्यता पुराणों से ही स्थापित हो चुकी थी । ईश्वर के प्रमुख अवतार राम, कृष्ण के रूप में जन समुदाय के मन पर छा गये । इन दो अवतारों को समाज ने मान्यता दी । संतों ने ईश्वर की जहाँ अलौकिक लीला का वर्णन किया है वहाँ वे अवतारी लीला से भी प्रभावित हुए हैं । संतगण जो मूलत: भक्त ही थे स्वाभाविक रूप से इन अवतारों की ओर आकृष्ट हुए और उनकी लीला का गान किया । डॉ. पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल के शब्दों में "कबीर तथा उनके साथ अन्य संत अवतारवाद की ओर अधिकांश रूप से आकर्षित हुए प्रतीत होते हैं ।"/1/

डॉ. मुंशीराम शर्मा के अनुसार "कबीर का राम निर्गुण होते हुए भी सगुण है । उनके पास पौराणिक पद्धति के अनुकूल शेषनाग है, गरूड़ है और लक्ष्मी {कमला} भी है । ये सब उसके समीप रहते हैं ।"/2/

कबीर के अनुसार विष्णु की नाभी से पद्म उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा का उदय हुआ । गंगा विष्णु के चरणों से निसृत हुई । पुराणों के अनुसार यह सब हरिलीला का ही प्रसार है ।"/3/ संत कबीर का संपूर्ण व्यक्तित्व ही विष्णु, नारायण एवं गोविंद की महिमा से ओत-प्रोत है । "/4/

/1/" The Nirguna school of Hindi Poetry" . p:66.
/2/ " भक्ति का विकास" - पृ: 435.
/3/ "जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरनगंग तरंगे ।
कहै कबीर हरि भगति वाछूँ, जगत गुरू गोविंद । {क. ग्र. , पृ: 217}
/4/ "मेरी जिभ्या बिस्न नैन नाराइन, हिरदै जपौ गोविन्द । {क. ग्र., पृ: 173}

संत चरनदास भी विष्णु के चरण कमलों के ध्यान में निमग्न है ।/1/ विष्णु के अतिरिक्त राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन, परशुराम आदि अवतारों से संबंध लीलाओं का वर्णन संत काव्य में उपलब्ध होता है । कबीर ने सैद्धांतिक रूप से अवतारवाद का खंडन अवश्य किया है, किंतु ऐसा करने के साथ-साथ वे अवतारी लीला का वर्णन करने से भी नहीं चूके ।/2/ उन्होंने राधाकृष्ण की लीला का वर्णन भी किया है । कृष्ण के प्यारे वन है, जहाँ बाजे बज रहे हैं, द्वारका धाम है और आभीर कृष्ण के साथ राधा तथा रुक्मिणी भी है । भक्त कबीर का राम इन सब में रमण कर रहा है । गुणवान और पण्डित सब मिलकर इस राम के लीला यश का गान कर रहे हैं । /3/

/1/ " चरनदास की बानी" पृ: 57.

/2/ " लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नदंन, नंदकहौ धूं काकौ रे ।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नंद कहां थौ रे ।।
(क. ग्र. पृ: 103.)

/3/ "इहि बंनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बनिबाजै तूरा रे ।
इहि बानि खेलै राही रुकमनि, उहि बांनि काह अहीरा रे
आसि पासि तुरसी कौ बिरका, मोहि द्वारिका गांऊ रे
तहा मेरौ ठाकुर रांम राइ है, भगत कबीरा नाऊँ रे । (76)

(कबीर ग्रंथावली, पृ: 112, भक्ति का विकास, पृ: 437)

दशरथि राम के ईश्वरत्व को चुनौती देने वाले कबीर उसी अवतारी राम के लीला-गान में आनन्द अनुभव करते हैं तथा यह घोषणा करते हैं कि प्रभु की भक्ति के परिणामस्वरूप जीव तथा पतित लोग भी समाज में ऊँची पदवी तथा मर्यादा के अधिकारी बन जाते हैं ।*/1/

यद्यपि कबीर ने साकारोपासना का खंडन किया है तथापि राम, कृष्ण की लीला का वर्णन करते समय वैष्णव मंदिरों में बजनेवाले झांझ, मंजीरा और तुलसी वृक्ष को नहीं भूले ।

कबीर ग्रंथावली में एक पद में कबीर पूरी तरह सगुण भक्तों की तरह कृष्ण की मोहनी मूर्ति का वर्णन करते हैं । तुलसी के सघन वन के मध्य पुनीत वाराणसी स्थित है । वहीं कृष्ण विराजमान है, जिनकी मनमोहिनी मूर्ति ग्वालिन {भक्त} के हृदय में बस गई है और उनके चरणों में उसका मन इस प्रकार रम गया है कि वह प्रभु से निवेदन करती है कि हे भगवान । अब मुझे अपने से अलग मत कीजिए । वह वास्तव में बड़ा ही सौभाग्यशाली है । जिसको प्रभु की प्राप्ति हो जाती है । लीलाविहारी कृष्ण ग्वालवालों के साथ गोचारण कर रहे हैं और भक्त कबीर उनकी इस लीला को देखकर आनन्दविभोर हो रहे हैं । */2/

सन्त दादूदयाल ने भी मनमोहन कृष्ण की लीला का ऐसा सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया है जो कृष्ण भक्तों की लीला वर्णन से साम्य रखता है ।*/3/

/1/ " है हरि भजन को प्रवांन । नीच पावें ऊँच पदवी, बाजते नींसार
भजन को प्रताप ऐसो, तिरे जल पाषान
अधम भील अजाति गनिका चढ़े जात बिवांन । {क. ग्र. पृ: 190.}

/2/ "आस पास घन तुरसी का बिरवा मांझ बनारस गाऊं रे
वाका सरूप देखि मोही ग्वारिन मोको छोड़ि न आउ न
तोहि चरन मन लागो । सारिंगधर सो मिलै जोबड भागे जाहू रे ।
बृंदावन मन हरन मनोहर कृष्ण चरावत गाऊं रे
जाका ठाकुर तुही सारिंगधर मोहि कबीरा नाऊं रे {17} क. ग्र. पृ.:269-70.

/3/ "मुखि बोलि स्वामी, तू अंतरजामी, तेरा सबद सुहावै राम जी
....
दादू तारण दुरित निवारण संत सुधारण रामजी ।
{दादू दयाल की बानी, भाग-2, पृ:167.}

संतो का भावुक हृदय सभी प्रकार के अनाचार, अत्याचार से पीड़ित प्राणियों के दुख से घृणित हुआ है । अतः निरीह बालक प्रह्लाद और नृसिंहावतार की लीला का संतों ने मुक्त कंठ से गान किया है । भक्त के प्राणरक्षार्थ भगवान् क्या नहीं करते । यहाँ स्पष्ट शब्दों में संकेतन होने पर भी कबीर की मौन अभिव्यक्ति वही है जो परवर्ती गो. तुलसीदास की "अगुन अरूप अलख अजजोई" भगत प्रेमबस सगुन सो होई ।"/1/ पद की अंतिम पंक्ति में प्रह्लाद उबारयो अनेक बार में वही भाव है जो तुलसी की "हरि अंनत हरि कथा अंनत " में है ।"/2/

कबीर का भक्त रूप इन विविध लीला गानों के माध्यम से खुल कर व्यक्त हुआ है । ऐसा करते समय निर्गुण निर्विकार, अविगत, अरूप और सगुण, साकार में तात्त्विक अन्तर बाधक बनकर उपस्थित नहीं हुआ है । कबीर के अतिरिक्त धरमदास, चरनदास, जगजीवनदास, दूलनदास आदि संतों ने भी हरि लीला का वर्णन किया है ।

अतः प्रस्तुत लीला वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संतों ने अप्रकट, अलौकिक तथा प्रकट दोनों प्रकार की लीला का वर्णन किया है । कबीर आदि संतों ने अलौकिक लीला के वर्णन को विस्तार से प्रस्तुत किया है । परन्तु जन जीवन में मान्यता प्राप्त अवतारों से संत मन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका । उन्होंने भी लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक परमात्मा के साथ लीला का वर्णन किया है ।

कबीर की निर्गुण प्रेम लीला :-

कबीर दास का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारतीय धर्म साधना अनेक जातीय और मतों के संघर्ष से गुजर रही थी । ऐसी स्थिति में दक्षिण से वेदान्त-भावित भक्ति का आगमन हुआ जो संपूर्ण भारत में फैल गया ।

/1/ " रामचरितमानस, बालकाण्ड {गुटका} पृः 127.

/2/ " रामचरितमानस, पृः 152 .

इस भक्ति की ओर इंगित करते हुए डॉ. ग्रीयर्सन ने कहा था --" बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त {धार्मिक मतों के} अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी । यह भक्ति का आन्दोलन है ।" यह भक्ति दो रूपों में प्रकाशित हुई । पौराणिक अवतारों को केन्द्र करके सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण परब्रह्म जो योगियों का ध्येय था, उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेम-भक्ति की साधना के रूप में । परन्तु प्रेम मार्ग ही दोनों रूपों का मार्ग था , आंतरिक प्रेम निवेदन, बिना शर्त के भगवान के प्रति आत्म समर्पण दोनों के प्रिय साधन थे । इन में अन्तर लीला संबंधी विचारों का था । दोनों ही भगवान की प्रेम लीला में विश्वास करते थे । परन्तु मुख्य भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान को दूर से देखने में रस पाते थे अर्थात् केवल भगवान् के रूपरंग को देखना और उससे प्रेम करना ही उन्हें अभीष्ट था जब कि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान को परम काम्य मानते थे । वह भगवान को स्वयं में पाकर उस में रम जाना चाहते थे दोनों का मिलन ही उनकी प्रेमा भक्ति का चरम लक्ष्य था ।

भारतीय भक्तों विशेषकर सगुण भाव से भक्ति करने वाले भक्तों की सब से बड़ी कल्पना है लीला । यह लीला क्या है ? भगवान् के साथ भक्तों के अथवा प्रिय के साथ प्रिया की क्रीड़ा, खेल और उस खेल से प्राप्त आनन्द को लीला कहते हैं । परन्तु प्रश्न यह उठता है कि कबीर के राम निर्गुण, निराकार, अकल, अगम्य है तो उसके साथ यह लीला कैसे संभव है । यहाँ विचार करने की बात यह है कि कबीर ने अपने निर्गुण को गुणातीत कहा है उनका ब्रह्म साकार नहीं है, और न ही उसकी कोई सूरत है और न ही वह कोई अवतार लेकर आया है पर उन्होंने परमात्मा से प्रेम की अभिव्यक्ति के उपादान सगुण परक लिये हैं केवल निहित तत्त्व निर्गुण परक हैं । उनका ब्रह्म कहीं पति, कहीं प्रिय कहीं प्रियतम बन कर लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक प्रेम लीला को व्यक्त करता है । स्पर्श आलिंगन, विरह, व्याकुलता आदि क्रियाएँ मानसिक धरातल पर होते हुए भी स्पष्टतः स्थूल है और साकार की अपेक्षा रखती है ।

कबीर का उपास्य मानसिक है, उसका आकार, स्वरूप और अपनत्त्व का प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने हार्दिक प्रेम का सहारा लिया है। क्योंकि प्रेम के लिए आकार का होना आवश्यक है। कबीर ने मानव हृदय के कोमल भाव को वस्तु बना कर अपनी भक्ति को केन्द्रित किया। हमारे ध्यान को केन्द्रित करने के लिए किसी आधार का होना आवश्यक है।

डॉ. बड़थ्वाल के अनुसार वैयक्तिक संपर्क के अभाव में भक्ति स्वंय में विरोधाभास बन कर रह जाती है। "/1/ इस विरोध का अंत करने के लिए कबीर जैसे संतों ने प्रेम का मार्ग अपनाया, जिसके माध्यम से भक्त ईश्वर से व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करता है, भक्ति के क्षेत्र में रागात्मक भक्ति को श्रेष्ठ बताया है। प्रेम के माध्यम से संत वाणियों में ईश्वर का एक ऐसा व्यक्तित्त्व उभर आया है जो सर्वथा स्थूल न होकर भी मानव मन को रमा लेने की क्षमता रखता है।

डॉ. बड़थ्वाल ने इसी संदर्भ में कहा है--" इस व्यक्तित्त्व के आरोप के परिणाम स्वरूप ईश्वर केवल कल्पनातीत सिद्धान्त न होकर समस्त सद्‌गुणों का आगार बन जाता है जो मानव हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करता है।"/2/

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक "कबीर" में लिखा है " भगवान परम प्रेममय है और जो कुछ वह करता है वह सब उसकी लीला है। उस लीला से उसे आनन्द मिलता है। वह भक्त की सारी अपूर्णताओं को पूर्ण करता है, इसीलिए वह परम प्रेम स्वरूप है।"/3/

---

1. Devotion without personal contact is,no doubt,a contradiction in terms . (The Nirguna School of Hindi poetry.P.76)
2. with inputation of personality thus,God no more remains the unfeeling abstract principle,and the Absolute becomes the abrode of all good qualities which go to attract the human heart towards Him. (Nirguna School of Hindi Poetry) P.77.
3. "कबीर" ह.प्र. द्विवेदी. पृ: 140.

लीला भगवान् के आनंद स्वरूप का प्रकाश है । इस जगत् में जो कुछ हो रहा है वह सब भगवान की लीला है । वह स्वंय यह लीला का जाल पसारे हुए हैं क्योंकि उसे प्रेम की भूख है । इसी लीला के लिए भगवान् भक्त से प्रेम की आशा करता है । (कबीर के भक्ति का मार्ग प्रेम साधना है । उनका स्वंय पत्नी, प्रेयसी और पतिव्रता नारी के रूप में देखना और परमब्रह्म के साथ प्रेम करना ही उसकी प्रेम लीला है । यह प्रतीक उन्होंने लौकिक जगत् से लिये हैं । जो मानव मन को अपनी ओर खींचने और समझने के लिए अत्यन्त सरल और ग्राह्य है परन्तु यह लौकिक प्रेम लीला लौकिक न होकर अलौकिक है यहाँ पति-पत्नी, प्रिय-पियतम, प्रत्यक्ष सगुण साकार न होकर आत्मा-परमात्मा के परिचायक है ।) कबीर के साहित्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर कोरे निर्गुणवादी नहीं थे, निर्गुण होते हुए भी उनकी भक्ति में सगुण भक्ति के अनेक तत्व छिपे हुए थे । वस्तुतः वे अपने भीतर के भगवान् को साकार रूप न देने के कारण ही उन्हें निर्गुणधारा का सन्त कहा जाता है । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो सगुण भक्ति आन्दोलन का जो रूप बना है वह निर्गुणधारा के प्रेममार्गी सन्तों से लिया गया है । सगुण तत्व का बीज रूप निर्गुण में पहले से ही स्थित था । कबीर ने परमात्मा को अनेक रूपों में देखा है उनका ब्रह्म कहीं बालक है, कहीं प्रियतम है, कहीं प्रिय है तो कहीं पति । इन अनेक रूपों के साथ कबीर की आत्मा गहन संबंध जोड़ती है , वह मिलने के लिए तड़पती है तो कहीं सेज सजा कर प्रिय की प्रतीक्षा करती है तो कहीं विरह में तड़पती है ।

कबीर ने सगुण भक्तों की तरह अपनी शब्दावली मे एक स्थान पर फागुन ऋतु का वर्णन किया है और प्रिया के साथ रंग खेलने की अभिलाषा व्यक्त की है । पिया से मिलने के लिए व्याकुल आत्मा (प्रियतमा) सोचती है कि फागुन की ऋतु नजदीक आ गई है क्या मुझे फिर वह सुख मिल सके गा क्या मेरा अलबेला साईं मुझे फिर मिलेगा, क्या मैं फिर उसके साथ रंग खेल सकूँगी ? धन्य है वे जो प्रिय के साथ एकमेक होकर फाग खेलती है, धन्य है वह जो उसकी मनभावती है, अभागिन है वह सखी जो ऐंचाचाती में ही रह गई ?

ऋतु फागुन नियरानी हो
कोई पिया से मिलावै
सोई सुन्दर जाकों पिया को ध्यान है,
सोई पिया की मन भानी
खेलत फाग अंग नहिं मोड़े
सतगुरू से लिपटानी ।" /1/

कबीरदास इस फाग लीला का आनंद अनुभव कर चुके थे । वह कहते हैं कि यह कहने की चीज़ नहीं अनुभव करने की चीज़ है "अकथ कहानी है " विरलों के नसीब में इस परम सुख का अनुभव बदा है । यह है लीला । इसका रहस्य समझना कठिन है क्यों कि यही साधन है, यही साध्य । जो साधक इस मस्ती को जान लेता है वह आठों पहर मतवाला बना रहता है उसका रस पीता है ।

आठहूँ पहर मतवाल लागी रहै
आठहूँ पहर की छाव पी वै ।
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै ।
ब्रह्म की छौल में साध जीवै ।"/2/

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भक्त की भगवान के साथ यह जो आनंद केलि या प्रेमलीला है, वही मध्ययुग के समस्त भक्तों की साधना का केन्द्र बिंदु है । भगवान के साथ यह रसमय लीला ही भक्त का परम काम्य है । लीला जिसका कोई प्रयोजन नहीं, फल नहीं, कारण नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं ।

वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती ने प्रेम को ही परम पुरुषार्थ कहा है । प्रेमाः पुमर्थो महान् । साधारणतः जिनको पुरुषार्थ कहा जाता है वे धर्म, अर्थ, काम-मोक्ष भक्त के लिए आकर्षण नहीं रखते । कबीर ने भी इसी बात को शक्तिशाली ढंग से कहा है --

शता-माता नाम का , पीया प्रेम अघाय ।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय ।" /3/

/1/ "शब्द" 22 पृ: 15.
/2/ "शब्दा", पृ: 103-4
/3/ "कबीर वचनावली", पृ: 13 .

कबीर की भक्ति साधना के केन्द्र बिंदु प्रेम लीला है और इस लीला का उन्होंने व्यापक और विशाल स्वरूप प्रस्तुत किया है । कबीर साहित्य प्रेम तत्त्व से ओत-प्रोत है । भगवान् के साथ उनकी लीला का वर्णन अनेक स्थान पर हुआ है कहीं कहीं तो वे पूरे सगुणवादियों की तरह अपने विचार व्यक्त किये हैं जिसे पढ़ कर कभी-कभी हमें सन्देह होने लगता है कि क्या यह प्रेमलीला कबीर की ही है ? इस प्रेम लीला को रचाने के लिए कबीर स्वंय को प्रेयसी, पत्नी और पतिव्रता के रूप में अभिव्यक्त किया है जो उस परम पुरुष अर्थात् परमब्रह्म से प्रेम करती है उसके विरह में तड़पती है और उससे मिलने पर संकोच भी करती है और कहीं कहीं वह उस पर अपना एकाधिकार पाना चाहती है । यही रागात्मक भक्ति द्वारा कबीर ने दाम्पत्य प्रेम प्रतीकों से आत्मा परमात्मा के मिलन को संभव बनाया है जो अत्यन्त हृदय ग्राह्य है और सहज भी प्रतीत होता है । उनकी प्रेम लीला के संबंध में उदाहरणस्वरूप कुछ पद तथा दोहे यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं----

चुनरिया हमरी पिया ने सँवारी
कोई पहिरै पिय की प्यारी
आठ रँग पटिया पारी
चाँद सूरज जानैं आँचल लागे
जगमग जोति उजारी
बिनु ताने यह बनी चुनरिया
दास कबीर बलिहारी ।"

भक्ति रूपी प्रिया के लिए स्वंय प्रिय ने अर्थात् भगवान ने यह अनोखी चुनरी सँवार कर भेजी है जिसमें चाँद सूरज लगे हुए हैं । यह चुनरी सनातन है, चिर नवीन है । पिया ने प्रसन्न होकर जिस प्यारी को यह चुनरी दी है वह प्रियतमा धन्य है । कबीर कहते हैं कि वह उस प्रियतम के बलिहारी जाते हैं जिन्होंने यह चुनरी दी है ।

परन्तु इस प्रेम के उपहार को संभालकर रखना कठिन कार्य है, कबीर कहते हैं कि उस चुनरी में पड़ा दाग तभी दूर होगा जब साहब {परमात्मा} तुझे अपना लेगा ।

मोरी चुनरी में परिगयो दाग पिया ।
....
कहै कबीर दागन छूटिहैं, जब साहेब अपनाय लिया ।/1/

इस तरह कबीर बहुत ही वीर्यवती साधना के रूप में प्रेम लीला को देखा है । उनके अनुसार एक बार जिसे भगवान की पुकार सुनाई देती है अर्थात् एक बार जो प्रिय के दर्शन कर लेता है वह विरह से व्याकुल हो उठता है, उस प्रियतम को देखने की मन में बार-बार इच्छा होती है । प्रिय मिलन के लिए उसकी तड़प संसार के किसी और विरह-व्यापार से तुलनीय नहीं हो सकती । विरह की मारी आत्मा हर एक आने जाने वाले से पूछती है कि क्या तुम मेरे पिया के पास जा रहे हो उनसे पूछना कि वो मुझ से मिलने कब आ रहे हैं ।

विरहिन ऊभी पंथीसिरि पंथी बूझै धाई
एक सब्द कहि पीव का, कबरे मिलैंगे आई ।/2/

कबीर ने प्रेम की इस तड़प को "बाण" कहा है । उनके अनुसार जब यह बाण प्रियतम के कमान से खिंचकर भक्त के कलेजे में लगता है तो वह अंतर छेद देता है । पर यह पीड़ा बड़ी मधुर लगती है क्योंकि यह पीड़ा बार-बार प्रिय की याद दिलाती है । परन्तु यह प्रिय बड़ा ही कठोर है उसका मार्ग सरल नहीं है वहाँ शीश उतार कर ही उसे पाया जा सकता है ।

कबीरा यह घर प्रेम का खाला काबर नाहिं
सीस उतारे हाथि करि सो पैरे घर माँहिं ।
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ।/3/

/1/ "शब्दा", पृ-48.
/2/ "कबर ग्रंथावली", पृ: 7-8.
/3/ वही, पृ: 69.

विरहिणी अपने प्रियतम को पुकारते-पुकारते थक जाती है । मार्ग निहारते - निहारते उसकी आँखों में झाँइयाँ पड़ गई है और आँखों से दिन-रात आँसू बह रहे हैं पपीहे की भाँति नाम रटते हुए उसकी जीभ में छाले पड़ गये हैं वह कहती है हे राम तुम मुझसे कब मिलोगे --

अंखड़ियाँ झाँई पड़ी पथं निहारि निहारी
जीभड़िया छाला पड्या, राम पुकारी पुकारी
नैना नीझर बठाइया रहट बसै निसजाम
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं कबरे मिलहुगे राम ।।/1/

प्रिय मिलन की प्यासी आत्मा कहती है एक बार अगर वह प्रियतम मिल जाए तो वह उसे अपने नैनों में बंद कर लेगी न वह और किसी को देख सके और न ही प्रियतम किसी और को देखने का मौका मिले । इस दोहे में यह स्पष्ट होता है कि प्रेम एकाधिकार चाहता है । वह अपने प्रेम को किसी के साथ बाँटना नहीं चाहती --

नैना अंतरि आव तूँ ज्यूँ हौ नैन झंपेऊ
नाँ हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देऊँ ।/2/

कबीर दास के प्रेम के आदर्श सती और शूर है । जो प्रेम भाव-विह्वल कर देता है, मनुष्य को परवश बना देता है, वह कबीर को अभीष्ट नहीं । कबीर कहते हैं भक्त को शूर के समान वीर और सती के समान सहासी होना चाहिए ।

सती विचारी सत किया, काठौं सेप बिछाइ
ले सूती दिव आपणां, चहूँ दिसि अगनि लगाई ।/3/

/1/ "कबीर ग्रंथावली", पृ: 9.
/2/ " वही " पृ: 19.
/3/ " वही " पृ: 34.

सती साहस के साथ अपने पति की चिता में जल जाती है तभी उसका तादात्म्य संभव है । सती के समान जीव को भी अपना सर्वस्व स्वाहा करने पर ही भगवान् से तादात्म्य हो सकता है ।

कबीर का प्रेम आदर्श कविवर रवीन्द्रनाथ के प्रेम लीला के आदर्श से बहुत मिलता है । वे बहुत सरस और कवित्त्वपूर्ण ढंग से जिस प्रेम लीला को व्यक्त किया है कबीर ने सरल, और अर्थपूर्णभाषा में व्यक्त किया है ।

कबीरदास की भक्त रूपी अभिसारिका आरती सजा कर प्रिय को ढूँढने निकल पड़ती है , प्रेम रस की बूँद से चुनरी भीजती रहती है :

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूँदन
आरती साज के चली है सुहागिन,
प्रिय अपन को ढूँढन ।/1/

या फिर वह प्रियतम की ऊँची अटारी तक पहुँच कर भी लज्जा से ऊपर जाने में संकोच करती है, उसके पैर सीढियों पर ही लड़खड़ाने लगते हैं --

पिया मिलन की आस रहौं कबलौं खरी ।
ऊँचे नहिं चढि जाय मने लेज्जा भरी
पाँव नहीं ठहराय चढूँ गिर गिर परूँ
फिर फिर चढहूँ सम्हारि चरन आगे धरूँ ।/2/

या फिर वह ऊँचे कटीले मार्ग पर व्याकुल भाव से निकल पड़ती है । पाँव डगमगाते रहते हैं , मन, लाज और कुल की मर्यादाओं के भंग होने के भय से सशंक बना रहता है, नैहर की बसने वाली होने के कारण वह नैहर में प्रिय समागम -- सो भी अभिसार की लज्जा नहीं छोड़ पाती , ऊँचे महल को चकित होकर देखती है परन्तु सद्गुरू रूपी दूती के मिलते ही प्रियतम के गले लगना उसके लिए संभव हो जाता है :--

---

/1/ "शब्दा", पृ:9

/2/ "कबीर वचनावली," पृ: 141-2.

मिलना कठिन है कैसे, मिलौगी प्रिय जाय
समझि सोचि पग धरौ जतन से, बार बार डिग जाय
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय
लोक लाज कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय
नैहर बास बसौ पीहर में, लाज तजि नहिं जाय
अधर भूमि जहँ महल पिया का, हमपै चढ़यौ न जाय
धन भई बारी पुरुष भले भोला सुरत झकोरा खाय
दूती सद्गुरू मिलै बीच में, दीन्हों भेद बताय
साहब कबीर पिया सो भैट्यौं सीतल कंठ लगाय ।*/1/

सच बात तो यह है कि उसे नैहर अच्छा नहीं लगता । उसे अपने प्रियतम की नगरी की याद सताती है, जहाँ दिन रात मोती बरसते हैं, जहाँ प्रिय की मधुर मुरली से दिगंत मुखरित होता रहता है, जहाँ कमल के पुष्पों और विविध कुसुमों के सौरभ से वातावरण व्याप्त रहता है । वह अभिसार यात्रा को निकलने के लिए बाध्य है । चातक जिस प्रकार चन्द्र की ओर टकटकी लगाए रहता है वैसे ही वह उस प्रेममयी नगरी को ताकती रहती है :--

मोतिया बरसे तौरे देसवाँ दिन-राती
मुरली शब्द सुनि मन आनंद भयौ, जोत बहै दिन राती
बिना मूल के कमल प्रगट भयौ, फुलवा फलत भाँति-भाँति
जैसे चकोर चंद्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती । */2/

प्रियतम की अद्भुत नगरी के सामने उसे नैहर कैसे भा सकता है । वह उस नगरी के विषय में सोचती है जहाँ कोई न आ सकता है न जा सकता है । सूर्य, चन्द्र, पवन तथा पानी भी वहाँ जाने में असमर्थ है । उस अगम अगोचर स्थान पर विरह की मारी प्रिया का संदेश कौन पहुँचा सकता है । वह सखी से कहती है कोई ऐसा उपाय सोचो कि वहाँ जाकर कोई मेरा यह दर्द भरा संदेश प्रिय को

/1/" कबीर वचनावली", पृ: 136-7.
/2/ "शब्दा" पृ: 72.

सुना सके। कबीर कहते हैं कि वहाँ संदेश पहुँचाने वाला केवल सद्गुरु ही है उसके बिना प्रियतम से मिलना असंभव है ।

नैहरवा हमकाँ नहीं भावै न आवै,
साँई की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोई जाइ
चाँद सुरज जहँ पवन न पानी, को संदेस पहुँचावे ?
दरद यह साँई को सुनावै
....
बिन सतगुरु अपना नहिं कोई, जो यह राह बतावै,
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै
तपन यह जिय की बुझावै ।"/1/

कबीर की अभिसारिका केवल मिलने का ही प्रयत्न नहीं करती वह प्रिय के साथ शैय्या पर सोने भी चाहती है --

अँखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यौ, पिया बिना कुम्हलानी
धीरे पाँव धरौ पलंगा पर, जागत ननद जेठानी
कहत कबीर सुनो भाई साधो लोक लाज बिछलानी ।"/2/

[कबीर का प्रेम मार्ग साधना का मार्ग है । प्रिय से मिलने की व्याकुलता अधीर करने वाली है । उन्हें अपने प्रियतम के प्रेम पर अखंड विश्वास है । वह स्वंय के आत्म समर्पण को ही प्रेम का अनिवार्य तत्त्व समझते हैं । यह एकरस प्रेम ही परम पुरूषार्थ है । कबीर दास असीम प्रियतम से प्रेम करते हैं । हद के जीव का बेहद वे प्रिय से मिलन में एक ऐसा अलौकिक रस है जो अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है । असीम की सीमा के लिए व्याकुलता का प्रमाण यह सारा विश्व है । अगर असीम अपने आप में संतुष्ट होता तो यह सीमा का सर्जन निरर्थक होता ।

/1/ " शब्दा" पृ: 72.
/2/ " क. वच. पृ: 166.

भक्त कबीर ने संसार के इस ईश व्यापार को समझा । इसे उन्होंने अपने ढंग से कहा है --

जल में कुंभ, कुंभ में जल, बाहर भीतर पानी

" लाली देखू लाल की जित देखौं तित लाल" ऐसे अनेक उदाहरण है जो कबीर ने आत्मा और परमात्मा के संबंध में कहे हैं ।

अतः यह स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति का केन्द्र बिंदु प्रेम लीला है । प्रेम लीला को व्यक्त करने के लिए उन्होंने दाम्पत्य प्रेम प्रतीकों का सहारा लिया है । उनकी प्रेमा भक्ति निष्काम है । पति-पत्नी, प्रिया-प्रियतम, अभिसारिका रूपी प्रियतमा आदि लौकिक उदाहरण देकर उन्होंने आत्मा-परमात्मा की इस प्रेम लीला का गान किया है । उनके इस प्रेम रस को भाषा द्वारा नहीं समझाया जा सकता यह तो गूंगे के गुड़ के समान है जो केवल अनुभव किया जा सकता । शब्द जिसे कहने में असमर्थ है उसे सिर्फ महसूस ही कर सकते है । कबीर ने भले ही किसी अवतार , रूप या आकार को नहीं अपनाया पर उनका भगवान् के प्रति यह निराकार प्रेम आगे चलकर साकार रूप प्रस्तुत करने में सफल हुआ है । यदि यह कहा जाय कि सगुण भक्ति धारा वाले भक्तों ने यह प्रेम की पीर, व्याकुलता और जिस लीला का गुणगान किया है वह किसी न किसी रूप में कबीर से प्रभावित होकर लिया है तो अनुचित न होगा । कबीर जो प्रियतम का स्पष्ट रूप प्रस्तुत नहीं कर सके उसे सगुण भक्तों ने एक आकार देकर कबीर के विचारों , उनकी भक्ति और प्रेम का विकास किया है । आगे चलकर तुलसी, सूर आदि कवियों ने अवतारी पुरुषों की लीला की है उसका बीज रूप कबीर में पहले से ही स्थित था । इस प्रेमाभक्ति का विकास, प्रसार प्रचार करने का कार्य इन भक्तों ने पूर्ण किया ।

अतः हम कह सकते हैं कि कबीर कोरे निर्गुणवादी नहीं थे उनकी भक्ति प्रेमाश्रित थी उनके गाये हुए पदों में हम प्रेम की चरम उन्नति, चरम लक्ष्य को देख सकते हैं । जितने सहज, सरल तथा हृदय को छूने वाले ढंग से कबीर ने भगवान् से प्रेम की बात कही है वैसा अन्यत्र मिलना मुश्किल है ।

अर्थात् लीला के लिए उन्होंने भावनाओं से कल्पित जो भक्त का देहरूप प्रस्तुत किया है वह अविस्मरणीय है । कबीर की प्रेम लीला से संबंधित कबीर ग्रंथावली तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी की "कबीर" पुस्तक से कुछ पद यहाँ पर उद्धृत किये गये हैं ।

पुरूष और स्त्री के रूप में प्रेम लीला :-

कबीर ने स्त्री को आत्मा के प्रतीक के रूप में व्यक्त किया है । आत्मा और परमात्मा का संबंध स्त्री और पुरूष का संबंध है । जिस प्रकार प्रभा और सूर्य, चन्द्र और चन्द्रिका का संबंध है उसी प्रकार स्त्री {आत्मा} और पुरूष {परमात्मा} का संबंध है । अर्थात् दाम्पत्य भाव के प्रेम में जैसी तीव्रता और सांद्रता होती है वह अन्य किसी संबंध या भाव में नहीं होती । आत्मा-परमात्मा के इस संबंध को पति-पत्नी के संबंध से उपमा दी है । इसे मधुर भाव भी कहा जाता है । कबीर ने आत्मा रूपी नारी के प्रतीक को प्रतीक के रूप में चार प्रकार की स्त्रियों का प्रयोग किया है जैसे कुमारी कन्या, विवाहिता सुन्दरी, विरहिणी और सती । इन चारों रूप में नारी की पावनता और उसके स्वच्छ निर्मल स्नेह की घटा परमात्मा के प्रति दिखाई देती है । कबीर ने नारी के त्यागमय उदात्त प्रेम को ईश्वरोन्मुख प्रेम का आदर्श बनाया है । इस प्रकार कबीर ने "नारी" शब्द आत्मा के लिए सर्वत्र प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है । आत्मा-परमात्मा को स्त्री-पुरूष के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने निर्गुण प्रेम लीला को स्पष्ट किया है । यह लीला स्त्री और पुरूष की लीला है ।

विरहिणी

पूर्वराग की स्थिति में प्रेम की प्रथम जागृति के पश्चात् परिचय या विवाह होने तक विरह तीव्रता के साथ अनुभूत होता है । इसी प्रकार प्रियतम के साक्षात्कार करके चले जाने पर भी विरह की प्रतिति होती है । कबीर ने "विरहिणी कौ अंग " में सभी प्रकार की विरहानुभूति का वर्णन किया है जो सगुणवादी भक्तों की भाँति प्रतीत होता है । इसकी अभिव्यक्ति निर्गुण में आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में हुई है । आत्मा परमात्मा का ही अंश है अपनी अज्ञानता के कारण वह उससे वियुक्त हो गई है जब उसे ज्ञात होता है तब वह पुनः परमात्मा को पाने का प्रयास करती है और उसकी प्राप्ति के लिए व्याकुल, व्यग्र, आतुर और अधीर होकर तड़पने लगती है । यही उसकी विरह व्यथा है ।

कबीर के उस वर्णन से हम तत्कालीन विरहिणी नारियों की मनोव्यथा का दर्शन करते हैं क्योंकि यह प्रतीक मांसल जीवन से लिया गया है जैसे विरहिणी पीली पड़ गई है , वैद्य बुलाया जाना, आँखे दर्द के कारण लाल हो जाना आदि । प्रिय दर्शन के लिए विरहिणी अपने शरीर को जलाती है, तो कभी विरह भुवंगम को अपना तन खिलाने में आनन्द अनुभव करती है । यह सारी दशाएँ स्त्री या पुरुष से ही संबंध है । आत्मा की तड़प बहुत कुछ सगुण भक्ति धारा के कवियों से साम्य रखती है । सूरदास की गोपियाँ कृष्ण के विरह में व्याकुल है वह भी कबीर की विरहिणी की भाँति विरहाग्नि में जल रही है और उन के नेत्र भी कृष्ण को खोजते खोजते थक गये है । इसी तरह की तड़प प्रेममार्गी शाखा के सूफी कवि जायसी में भी मिलती है । नागमती का विरह वर्णन बहुत प्रसिद्ध है । उन्होंने पद्मावत में एक पूरा खंड नागमती के वियोग पर लिखा है जो बहुत कुछ इसी तरह के भाव व्यक्त करता है ।

कबीर की विरहिणी ने विरह की "चिन्ता" की अवस्था को "चिन्तन" में परिवर्तन किया है । प्रिय गुणों का स्मरण उसके विरह को उद्दीप्त करता है । "प्रलाप" को वह ज्ञान के रुप में भक्ति का सहायक बना लेती है और उसका

"उन्माद" ऐसा अनुपम अनोखा है कि भक्त जनों का आदर्श बन गया है । कबीर की इस प्रतीकात्मक विरहिणी में भारतीय साध्वी, पति परायणा नारियों की निष्ठा और तपस्या व्यक्त होती है । कबीर ने विरहावस्था का अत्यन्त मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है । विरह प्रेम की कसौटी है । अर्थात् जो प्रेम उच्च कोटि का होता है वह विरहाग्नि में तप कर और भी निखरता है ।

§ विरहिणी §   §विरह कौ अंग §

1. विरहिनी ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबहु मिलैगे आइ ।।§5§

भावार्थ:- विरहिणी § जीवात्मा § मार्ग में खड़ी है, आने जाने वाले पथिक से अपने प्रियतम § परमात्मा § का पता पूछ रही है कोई यह संदेश प्रीतम तक पहुँचा दे कि वह आकर मुझ से कब मिलेंगे ।

विशेष:- विरह दशा का अत्यंत मार्मिक वर्णन किया गया है । विरहिणी §जीवात्मा§ की विकलता और प्रियतम से मिलने की लालसा का सहज स्वाभाविक वर्णन किया है । विरहिणी के रूप में कबीर ने अपनी आत्मा को परमात्मा के लिए व्याकुल बताया है । विरह में तड़पती हुई कबीर की आत्मा ब्रह्म रूपी पीव से मिलने के लिए उत्कंठित है । यहाँ पर कबीर का ब्रह्म निर्गुण निराकार न हो कर एक अस्पष्ट आकार के रूप में प्रस्तुत हुआ है । यह आकार प्रेम के कारण है । प्रेम तत्व के समावेश से निर्गुण ब्रह्म भी शरीरी पुरुष रूप में व्यक्त हुआ है ।

§2§ "बिरहिनी फिरै है नाथ अधीर, ।
अजि बिनां कछु समझि न परई, बांछ न जानै पीरा ।।
या बड़ बिथा सोई भल जानैं, रामं बिरह सर मारी ।
कैसो जांनैं जिनि यहु लाई, कैं जिनि चोट सहारी ।।
संग की बिछुरी मिलन न पावैं सोच करै अरु काहै ।
जतन करै अरु जुगति बिचारैं, रटै रांम कूं चाहै ।।
दीन भई बूझै सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावैं ।।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलैं भलै सचुपावैं । §284§

भावार्थ- कबीर की विरहिणी आत्मा परमात्मा के वियोग में अधीर है, तड़प रही है । जिसे विरह की पीड़ा होती है वही उस दुख को समझ सकता है । सच है बांछ नारी प्रसव की पीड़ा को क्या समझ सकती है । वही इस पीड़ा को समझ सकती है जिसने इसे भोगा है । प्रेम की पीड़ा वही समझ सकता है जिसने चोट खाई है । हे प्रभु । यह जीवात्मा आप से बिछड कर मिल नहीं पा रही है और व्याकुल है । वह आपसे मिलने के जतन कर रही है और आपसे मिलने का मार्ग पूछ रही है । कबीर की आत्मा परमात्मा के वियोग में इस तरह तड़प रही है जैसे जल के बिना मछली ।

विशेष:- कबीर ने भक्ति, प्रेम और रहस्य भावना की सुन्दर व्यंजना की है । बांछ नारी के माध्यम से प्रेम की पीड़ा को व्यक्त किया है । जिस तरह बांछ नारी प्रसव की पीड़ा को नहीं समझ सकती उसी प्रकार जिसे प्रेम होता है वही विरह की पीड़ा को समझ सकता है । कबीर ने मीन की उपमा से अपनी तड़प को व्यक्त किया है । इसी तरह के भाव मीरा बाई के पद में दिखाई देते हैं ।

" मैं हरि बिन क्यों जिऊँ री माई ।
पिव कारन बौरी भई, ज्यौं घुन कठिनि खाई ।।"

§मीराबाई§

मीरा भी कृष्ण के प्रेम में व्याकुल हो गई है वह अपनी माता से प्रश्न करती है कि मैं अपने पति के बिना क्यों जिऊँ क्योंकि उनके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है, उनके वियोग में मैं बावरी हो गई हूँ ।

§3§ जा तनि बेदन जानैंगा जना सोई
सारा भरम §मरम§ न जांनै रांम कोई
चाषि बिन दिवरा जिसि है संझा
ज्यावर पीर न जांनै बंझा
सूझै करक न लागै कारी
विधाता करि मोहि सारी
कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये,
अपने तन की आप ही सहिये ।। §285§

भावार्थ:- कबीर कहते हैं कि जिसके हृदय में प्रेम की पीड़ा होती है वही इस दुख को समझ सकता है । अर्थात् जिसे भगवत्प्रेम होता है वही इस प्रेम की व्यथा को जान सकता है । नेत्रहीन के लिए दिन और रात दोनों समान होते हैं अर्थात् उसे दिन और रात में कोई अन्तर नहीं लगता । हे प्रभु मैं आपके दर्शन की प्यासी हूँ आप वैद्य बन के मुझे औषधी रूपी दर्शन प्रदान करें । कबीर कहते हैं जिसके मन की व्यथा वही जान सकता है दूसरा इसे क्या समझेगा ।

विशेष:- बिरहिणी आत्मा परमात्मा के दर्शन की प्यासी है । वह कहती है जिसे यह पीड़ा होती है वही इस बात को समझ सकता है । प्रेम की पीड़ा का महत्त्व वही जान सकता है जिसने इसे भोगा है । हे राम आप अपने दर्शन रूपी औषधी से इस पीड़ा को दूर करें और मुझे शांति प्रदान करें ।

कबीर की विरहिणी की भाँति मीराबाई भी अपने पद में इसी विरह दशा का वर्णन करती है । कबीर और मीरा की विरह व्यथा समान दिखाई देती है ।

"घायल की गति घायल जानै और न जानै कोय"
तथा घायल सी घूमत फिरूँ, दरद न जाणै कोइ
खान न भावै, नींद न आवै विरह सतावै मोई ।।
(मीराबाई)

मीरा भी कहती है कि जो प्रेम बाण से घायल हुआ है वही इस दर्द को जान सकता है । दूसरा इसे क्या समझे । इस पीड़ा के कारण मुझे न ही नींद आती है और न ही कुछ भाता है हर पल विरह में तड़पती रहती हूँ ।

(4) हो बलैयां क्यूं कब देखौगी तोहि
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी ब्यापी मोहि
नैन हमारे तुम्ह कूं चाहै, रती न मानै हारि
विरह अगनि तन अधिक जरावै ऐसी लेहु बिचारि
सुनहुँ हमारि दादि गुसांई, अब जिन कर हु बधीर
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामीं, काचै भांडै नीर
बहुत दिनन कै बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधे धीर
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि आरति वंत कबीर ।।(305)

भावार्थ:- हे भगवान मैं आपकी बलिहारी जाती हूँ । मैं आपके दर्शन कब करूँगी । आपके दर्शन के लिए मैं व्याकुल हो रही हूँ । मेरे नैन केवल आपको ही देखना चाहते हैं । वे रती भर भी मेरी बात नहीं मानते । विरह की अग्नि मेरे तन को जला रही है । आप मेरी इस बात पर विचार करें अर्थात् मेरे शरीर में प्राण रहते ही आप दर्शन दो । हे भगवान् आप धैर्यवान् है और मैं बहुत अधीर

क्योंकि मैं बहुत जन्मों से आपसे बिछड़ गई हूँ । कहीं ऐसा न हो कि मेरा यह शरीर रूपी कच्चा घड़ा फूट जाए और प्राण रूपी जान बह जाए । हे माधव आप मेरी विनती सुन लीजिए । और कृपा करके मुझे दर्शन दीजिए ।

विशेष:- कबीर की आत्मा-परमात्मा से बिछुड़ कर व्याकुल है उसे अपने शरीर में प्राण रहते ही राम के दर्शन की अभिलाषा है । वह कहती है कि मेरे नेत्र केवल आप ही की राह देख रहे हैं न आपके ही दर्शन चाहते हैं । आप के प्रेम में मैं अधीर हूँ और आपके दर्शन के लिए उत्सुक हूँ ।

इस पद में सूफी शैली की दाम्पत्य प्रेम परक विरह व्यथा की तीव्रता की सफल अभिव्यक्ति हुई है । मिलन की आतुरता कबीर ने कई स्थानों पर व्यंजित की है । "कबीर" शरीर रहते ही भगवान् के दर्शन की अभिलाषा करते हैं । अर्थात् वे मोक्ष की इच्छा न करके जीवन मुक्त होना चाहते हैं । यह आकांक्षा सगुण भक्तों जैसी है ।

पति-पत्नी

कबीर ने अपने प्रेम को दाम्पत्य भाव के माध्यम से व्यक्त किया है । उन्होंने "दुलहिनी गावहु मंगलाचार" पद के रूप में आत्मा और परमात्मा के विवाह का सुन्दर चित्रण किया है । विवाह के उपरान्त जो सामान्य भावनाएँ नई नवेली दुल्हन के मन में उठती है जैसे संकोच, तीव्र मिलनेच्छा, रतिभाव, सेवाभाव, आत्म समर्पण आदि अनुभूतियों को कबीर ने लौकिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है । परिचय से पहले जिस

प्रकार पत्नी के मन में अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती है उसी प्रकार कबीर ने आत्मा रूपी पत्नी की परमात्मा से मिलन के पूर्व की स्थिति का वर्णन किया है । वह अपने स्वामी से मिलने के लिए आतुर है, वह कहती है वही नारी सुलक्षणी है जो स्वामी के साथ सोती है, उसके साथ झूले पर झूलती है । कबीर ने दाम्पत्य प्रेम प्रतीकों के माध्यम से आत्मा और परमात्मा की प्रेम लीला का वर्णन किया है । मिलन से पूर्व की स्थिति में जो भाव नायिका के मन में उठते है और संयोग की अवस्था में हर्ष, संकोच, लज्जा आदि जो पतिव्रता स्त्री के लक्षण होते हैं उसका वर्णन आत्मा परमात्मा के प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया गया है । निर्गुण निराकार की प्रेम लीला दाम्पत्य माधुर्य भाव में प्रकट हुई है । लौकिक प्रतीकों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के प्रतीक के रूप में हुई है ।

§5§ पति-पत्नी §परचा कौ अंग §

कबीर तेज अनन्त का, मानौं ऊगी सूरज सेणि
पति संगी जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि ।। §1§

भावार्थ:- परमात्मा तो सदैव जागते ही रहते हैं । जीव ही अपनी अज्ञानता के कारण सोता रहता है । पति रूपी परमब्रह्म का तेज अनेक सूर्य के समान उज्जवल है । जब पत्नी रूपी §जीवात्मा§ को ज्ञान हुआ तब उसने पति के तेज को देखा और उस परमात्मा का साक्षात्कार करके आश्चर्य चकित हो गई ।

विशेष:- इस दोहे में कबीर ने रहस्यात्मक ढंग से दाम्पत्य प्रेम को समझाया है । पत्नी रूपी जीवात्मा को जब आत्मबोध हुआ तब उसने देखा कि वह अपने पति §परमात्मा§ के ही संग सो रही थी । जो भी

आत्मा ज्ञानी होती है वह जागते रहती है और उसे ही परमात्मा के दर्शन होता है । जब जीवात्मा परमात्मा के दर्शन करती है तो वह आनन्द का अनुभव करती है । परमब्रह्म को पति के रूप में कबीर ने इस दोहे में स्वीकार किया है ।

पदावली

दुलहनी गावहुं मंगलाचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार
तन रति करि मैं मन रति करिहूं, पंच तत बराती
राम देव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन में मांती
सरीर सरोवर बेदि करिहूं, ब्रह्मा वेद उचार
राम देव संगि भांवरि लैहूं, धनि धनि भाग हमार
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी
कहै कबीर हम ब्याहि चले है, पुरुष एक अविनासी ।१।१

भावार्थ:- कबीरदास कहते हैं कि सौभाग्यशालिनी स्त्रियों, तुम लोग विवाह के मंगल गीत गाओ क्योंकि आज हमारे घर स्वंय भगवान पति के रूप में आये हैं । मैं अपने पति के प्रेम में तन और मन दोनों को अनुरक्त करूँगी । पति के साथ बाराती के रूप में पंच तत्त्व पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल, आकाश पधारे हैं । भगवान राम मेरे पति बन कर मुझे लेने स्वंय आये हैं । इस विवाह के मंत्र स्वंय ब्रह्मा पढ़ेंगे । विवाह का संस्कार इस प्रकार होगा । मैं शरीर रूपी सरोवर की यज्ञवेदी बनाऊँगी और वेदों का पाठ ब्रह्मा करेंगे । इस अवसर पर तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी हजार मुनिश्रेष्ठ आशिर्वाद देने आये हैं । इस तरह मैं उस परम पुरुष के साथ सात भांवरे लेकर हमेशा के लिए उसकी हो जाऊँगी ।

विशेष:- कबीरदास ने इस पद में लौकिक बिम्बों के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के मिलन की व्याख्या की है । कबीर की आत्मा स्त्री के रूप में परमात्मा से विवाह करने जा रही है । विवाह के शुभ अवसर पर तैंतीस करोड़ देवता और अठासी हजार मुनि भी आये हैं । इस विवाह के मंत्र स्वंय ब्रह्मा पढ़ेंगे । बाराती के रूप में पंच तत्त्व आये हैं । आत्मा अपने समस्त आवरणों के साथ परमात्मा से एकाकार होना चाहती है । विवाह के द्वारा वह अपने मन को परमात्मा के मन के साथ मिला देना चाहती है । कबीर ने दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के प्रेम को प्रकट किया है । रहस्यवादी प्रेम प्रतीकों का प्रयोग किया गया है । पति-पत्नी आत्मा परमात्मा के प्रतीक है ।

इसी तरह का विवाह वर्णन तुलसी ने रामचरित मानस में भी किया है । राम और सीता के विवाह को देखने के लिए समस्त नगर उमड़ पड़ता है ।

§7§ "बहुत दिन थैं मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े धरि बैठे आये ।
मंगलाचार मांहि मन राखौ, राम रसाइण रसना चाखौं
मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपना पीव पियारा
मैं रनि रासी जे निधि पाई, रामहिं कहां यहु तुमहि बड़ाई
कहै कबीर मैं कुछ न कीन्हां, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हां ।। §2§

भावार्थ:- कबीर की आत्मा रूपी पत्नी कहती है कि बहुत समय बाद मेरे प्रियतम मेरे घर पधारे हैं । यह बड़े सौभाग्य की बात है कि वे स्वंय चलकर आये हैं अर्थात् मैंने उन्हें कई जन्मों की साधना के बाद प्राप्त किया है । उनके आने से मेरा मन मंगल गीत गा रहा है

और मन रूपी मंदिर में उजियारा हो गया है । मैं अपने पति के साथ प्रेम से सो रही हूँ जिस प्रकार रानी अपने रानीवास में सोती है । मैंने उन्हें पाने के लिए कुछ भी साधना नहीं की यह तो राम की कृपा है कि वह मुझे अपने प्रेम से अनुरक्त कर रहे हैं उन्होंने मुझे अपना कर मेरा सौभाग्य बढ़ाया है ।

विशेष :- कबीरदास कहते हैं कि मुझे परमात्मा की कृपा से प्रभु का प्रेम प्राप्त हुआ है । पति रूपी परमात्मा ने मुझे अपने प्रेम से अनुरक्त किया और यह सौभाग्य की बात है कि उनके साथ मैं सो रही थी अर्थात् आत्मा परमात्मा का एकाकार हो गया है । दोनों में कोई भेद नहीं रह गया । कई जन्म जन्मान्तर की साधना के पश्चात् आत्मा रूपी पत्नी को परमात्मा रूपी पति का प्रेम प्राप्त हुआ है । कबीर कहते हैं कि यह सब परमात्मा के दया के कारण ही संभव हो सका है । यहाँ पर पति-पत्नी के मिलन के माध्यम से प्रेम लीला का वर्णन किया गया है जो सगुण भक्तों की तरह व्यक्त हुआ है । इस पद में कबीर ने दाम्पत्य एवं रहस्यवादी प्रेम की व्यंजना की है ।

§4§ "अब तोहि जान न देहूं रांम पियारे,
ज्यूं भावै त्यूं होह हमारे
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घर बैठे आये,
चरननि लागि करौं बरिआइ, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई
इत मन मंदिर रहौ नित चाषै कहै कबीर परहूमति धोषै ।।§3§

भावार्थ :- कबीरदास की आत्मा रूपर पत्नी कहती है -- हे प्रियतम, हे राम मैं अब आपको जाने नहीं दूँगी । जैसे भी हो आप हमारे हैं । बहुत दिनों के बाद आप हमारे घर स्वयं आये हैं । अर्थात् जन्म के साथ ही मैं आप से बिछड़ गयी थी और अब आपको प्राप्त

करने के बाद जाने नहीं दूँगी । अपने प्रेम में उलझा कर रहूँगी और हठ पेर्वक आपके चरणों से लिपटी रहूँगी । आप मेरे मन रूपी मंदिर में सुख पूर्वक रह सकते हैं ।

विशेष:- आत्मा रूपी पत्नी परमात्मा रूपी पति को अपनी साधना द्वारा पा लिया है । वह चाहती है कि परमात्मा से एकात्म होने के बाद वह कहीं न जाए । कबीर ने प्रेम के लौकिक बिम्बों के द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है । माधुर्य भाव पूर्ण रहस्यवाद का सहज चित्रण किया है । निराकार के प्रेम को व्यक्त करते हुए साकार प्रेम की अभिव्यक्ति हुई । प्रेम की अनन्यता और दैन्य भाव की सुन्दर व्यंजना है । प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष का पूर्ण चित्रण हुआ है । "भक्त घनानन्द ने भी इसी तरह का वर्णन किया है ।

" चाह के रंग में भीज्यौ हियो, बिछुरे मिलें प्रीतम संगति न मानै ।

(घनानन्द)

संयोग के समय वियोग की आशंका प्रेमियों को विरहकातर बनाए रखती है ।

तुलसीदास ने "विनय पत्रिका" में भी इसी तरह का वर्णन किया है -- अबलौ नसानी अब न नसै हौं

राम कृपा भव निसा सिरानो, जागे पुनि न डसै हौं ।"

(विनय पत्रिका)

तुलसीदास कहते हैं कि राम की कृपा से ही उन्हें राम के दर्शन प्राप्त हुए हैं अब वह उनसे वियोग नहीं चाहती कबीर की आत्मा भी सगुण भक्तों की भाँति उसके प्रेम में व्याकुल है और मिलन होने के पश्चात् बिछड़ना नहीं चाहती ।

§9§ साईं मेरे साजि दई एक डोली,
हस्त लोक अरू मैं न बोली ।।
इक झंझर सम सूत खटोला, त्रिसना बाव चहूँ दिसि डोला ।
पाँच कहार का भरम न जाना, एकैं कह्या एक नहीं माना
भूभर घाम उहार न छावा, नैहरि जाता बहुत दुख पावा
कहै कबीर बर बहु दुख सहिये, राम प्रीति करि संगही रहिये ।। §10§

भावार्थ:- कबीरदास कहते हैं कि मेरे पति अर्थात् परमात्मा ने मुझे §पत्नी§ डोली सजाकर पीहर जाने के लिए दी है । यह डोली पुराने सूत की है और इधर-उधर डोल रही है । इस डोली को उठाने वाले पाँच कहार है जो एक दूसरे से लड़ कर अपने अपने मार्ग पर ले जाना चाहते हैं । इस पीहर §संसार§ में आकर पत्नी को बहुत दुख उठाना पड़ा है और वह चाहती है कि अपने पति के पास वापस चली जाय उसे कितने भी कष्ट उठाना पड़े ।

विशेष:- जीवात्मा इस संसार में आकर माया मोह में फँस जाती है । उसे भटकाने वाले काम, मद, क्रोध, लोभ तथा मोह रुपी कहार है । शरीर रुपी डोली में बैठी हुई आत्मा परमात्मा से बिछड़ कर कष्ट भोग रही है । जब आत्मा को ईश्वर के प्रेम रुपी यौवन की अवस्था हो जाती है तब वह उससे मिलने के लिए तड़पती है । अर्थात् जब आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति होती है तो वह ईश्वर को प्राप्त करने के लिए उत्सुक होती है । यह इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वह संसार के सभी कष्ट को झेलकर ईश्वर प्रेम को पाना चाहती है । लौकिक प्रतीकों का सफल प्रयोग किया गया है । कबीर की आत्मा रूपी पत्नी अपने पति §परमात्मा§ के प्रेम को पाने के लिए व्याकुल है । उसे पाने के लिए वह संसार रूपर पीहर को त्यागना चाहती है । इस पद पर सूफी प्रेम और रहस्यवाद का स्पष्ट प्रभाव है । दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है । इसी भाव के आवरण में भक्ति की सुंदर व्यंजना हुई है ।

10. हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सके मेरा जीव,
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया,
किया स्यांगर मिलन कै तांई, काहे न मिलौ राजा राम गुसांई
अब की बेर मिलन जो पाऊं, कहै कबीर भौ जलि नहीं आऊं ।। ॥117॥

भावार्थ:- कबीरदास कहते हैं कि हे सखि, भगवान मेरे पति है । अब मैं उनके बिना नहीं रह सकती । हरि मेरे पति है और मैं उनकी दुलहिन हूँ । राम मुझ से बहुत बड़े हैं और मैं उनके सामने बहुत छोटी हूँ । मैंने पति से मिलने के लिए शृंगार किया है । हे राजाराम आप मुझसे क्यों नहीं मिलते । यदि आप मुझे मिल गये तो मैं इस भव-सागर में कभी नहीं आऊँगी ।

विशेष:- कबीरदास की आत्मा रूपी पत्नी परमात्मा रूपी पति से मिलने के लिए व्याकुल है । वह कहती है हरि मेरा पति है और मैं उसकी दुलहिन हूँ । राम बड़े हैं और मैं छोटी हूँ । प्रेम में प्रेमी स्वंय को छोटा और प्रियतम को बड़ा कहता है । इस तरह का प्रेम श्रद्धा भाव के कारण होता है । जीवात्मा परमात्मा के प्रति श्रद्धा भव रखती है इसीलिए वह अपने को तुच्छ निम्न मानती है । संपूर्ण पद में रहस्यवाद की व्यंजना है । भक्त कवि तुलसीदास ने भी इसी तरह भगवान को बड़ा, उच्च तथा स्वंय को निम्न कोटि का बताया है ।

" राम सो बड़ो कौन है, मो सो छोटो कौन
राम सो खरो कौन है, मो सो खोटो कौन ।।

॥विनय पत्रिका॥ तुलसीदास .

11. राम बांन अन्ययाले तीर ,
जाहि लागे सो जांनै पीर ।।
तन मन खोजौं चोट न पाऊं, औषद मूली कहाँ घसि लगाऊं
एक ही रूप दी सै सब नारी, नो जानौं को पिय हि पियारी
कहै कबीर जा मस्तकि भाग, नां जांनूं काहू देइ सुहाग ।। ॥11॥

भावार्थ:- कबीर कहते हैं कि राम का प्रेम रूपी बाण काँटे की तरह हृदय में चुभ गया है । इस पीड़ा को वही जान सकता है जिस को यह लगता है । कबीर की आत्मा रूपी पत्नी ने अपने तन और मन दोनों को खोज लिया है पर उसे चोट कहीं दिखाई नहीं दी । अब ऐसी स्थिति में कहाँ जाऊँ, किसका इलाज कराऊँ कौन सी औषधी खाऊँ या जड़-बूटी पीस कर लगाऊँ । कबीर कहते हैं कि ऊपर से समस्त नारियाँ एक जैसी लगती है पर अपने पति को कौन प्यारी है, कौन वह सौभाग्यशाली है जिसको प्रियतम अपनी प्रियतमा होने का सौभाग्य प्रदान करेगा अर्थात् भगवान किस को सुहागिन होने का अवसर देगा और अपने मिलन का सौभाग्य प्रदान करेगा ।

विशेष:- कबीर की आत्मा रूपी पत्नी प्रेम रूपी बाण से घायल हो गई है । उसे किसी क्षण चैन नहीं है । विरह रूपी प्रेम बाण से वह तड़प रही है । आत्मा कहती है कि जब परमात्मा रूपी पति उसे सुहागिन बनने का सौभाग्य प्रदान करेंगे अर्थात् उससे परमात्मा का मिलन होगा तभी यह पीड़ा दूर हो सकती है । यहाँ पर विरह वर्णन बिल्कुल सगुण भक्ति की तरह हुआ है । कबीर का निर्गुण निराकार यहाँ पर एक आकार के रूप में प्रयुक्त हुआ है । जिस का देह होगा, जिसका तन होगा उसी को प्रेम रूपी बाण से घाव होंगे अर्थात् यहाँ पर आत्मा का विरह वर्णन सजीव हो उठा है ।

भक्त कवि सूरदास ने भी "भ्रमरगीत सार" में उसी तरह की प्रेम पीड़ा का वर्णन किया है --

" जाके लागै सोइ जाने प्रेम बान अनियारो "

{सूरदास}

कवियित्रि मीराबाई भी अपनी प्रेम पीड़ा का वर्णन कुछ इसी प्रकार करती है --

"औषद मूरि न संचरै मोहि लाग्यौ बौराई "

{मीराबाई}

इस प्रकार कबीर की प्रेम लीला का विकास सगुण भक्ति में दिखाई देता है ।

12. जौ पै पिय के मनि नहीं भायें ,
तौ का परोसनि कै हुलराये ।।
का चूरा पाइल झमकायें, कहा भयो बिछुवा ठमकायें
का काजल स्यदूर कै दीयें सोलह स्यंगार कहा भयौ कीयें
अंजन मजंन करै ठगौरी, का पचि मरै निगौडी बौरी
जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी, कैसे हीं रहौ सो पियहि पियारी
तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा ।।

{139}

भावार्थ:- कबीर कहते हैं कि यदि कोई स्त्री अपने पति के मन को नहीं भाती है और पडोसियों को कितना भी प्रसन्न करे उसका जीवन व्यर्थ है । पति के प्रेम के अभाव में उसका सोलह श्रृंगार व्यर्थ है । उस स्त्री के चूड़े पहनने से, पायल झमकाने से बिछिया पहनने से क्या लाभ । अन्य पुरुषों को आकर्षित करने के लिए चाहे वह आँख में अंजन लगाये या सिंदूर अपनी माँग में भरे यदि वह अपने पति को प्रसन्न नहीं कर सकती तो इस श्रृंगार का क्या महत्त्व है । ऐसी स्त्री को अभागन और बावली ही कहा जाएगा । यदि नारी पतिव्रता है और

बिना श्रृंगार के भी अपने पति को प्रिय होती है तो ऐसी स्त्री को ही कबीरदास सौभाग्यवती कहते हैं । जो अपना तन, मन, धन सब कुछ पति पर न्यौछावर करती है ।

विशेष:- परमात्मा रूपी पति को वही पतिव्रता स्त्री {आत्मा} प्रिय होती है जो उस पर अपना सब कुछ न्यौछावर कर देती है । अर्थात् विषय वासनाओं को त्याग कर जो जीव परमात्मा से प्रेम करता है वही सच्चा भक्त कहलाता है । आत्मा रूपी नारी अपने पति के लिए सबकुछ त्याग देती है वही पतिव्रता कहलाती है । यहाँ पर आत्मा रूपी पत्नी का श्रृंगार बहुत कुछ सगुणवादी नारी की तरह प्रतीत होता है । सोलह श्रृंगार जैसे उबटन लगाना, स्नान करना, अंजन लगाना, सिन्दूर लगाना आदि शरीरधारी अर्थात् सगुण रूप का वर्णन है । परन्तु यहाँ पर यह वर्णन देह रूपी आत्मा के संबंध में किया गया है । इस तरह दाम्पत्य प्रतीकों के सहारे कबीर निर्गुण प्रेम लीला का वर्णन करते हैं ।

13. कब देखूं मेरे राम सनेही
जा बिन दुख पावै मेरी देही ।।
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी, कब रमि लहुगे अंतरजामी
जैसे जल बिन मीन तलपै, ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै
निस दिन हरि बिन नींद न आवै, दरस पियासी रांम क्यूं सचुपावै
कहै कबीर अब विलंब न कीजे, अपनौ जानि मोहि दरसन दीजै ।।
{224}

भावार्थ:- कबीर की पत्नी रूपी जीवात्मा पति के दर्शन पाने के लिए व्याकुल है । पत्नी रूपी आत्मा कहती है कि अब आप के बिना मेरा यह शरीर अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहा है । हे स्वामी, मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ । हे अन्तर्यामी आप मेरे हृदय में रह कर मुझको

कब अपना सामीप्य देंगे । जैसे जल के अभाव में मछली तड़पती है, वैसे ही आपके दर्शन के बिना मेरा मन व्यथित हो रहा है । आपके वियोग में मुझे रात-दिन नींद नहीं आती है । प्रियतम के दर्शन के अभाव में मैं सुख का अनुभव कैसे कर सकती हूँ । कबीर की विरहिणी आत्मा कहती है कि हे प्रभु । अब देर मत कीजिए । मुझ को अपना समझ कर अब शीघ्र दर्शन दीजिए ।

विशेष:- यहाँ पर भगवान् के वियोग में आत्मा की तड़प को प्रस्तुत किया गया है । पत्नी के रूप में ईश्वर प्रेम का वर्णन है । जीवात्मा दाम्पत्य विरह का अनुभव करती है । रहस्यवादी प्रेम की अभिव्यक्ति है । पति रूपी परमात्मा के वियोग में पत्नी रूपी जीवात्मा व्याकुल है, पति के बिना उसे न ही नींद आती है और न ही सुख चैन है । सगुणवादी भक्तों ने भगवान के प्रेम और विरह का इसी प्रकार वर्णन किया है । भक्त सूरदास का पद इस बात को स्पष्ट करता है । कृष्ण के बिना भक्त रूपी प्रिया का मन व्यथित है, विकल है उसे किसी क्षण चैन नहीं है । कृष्ण के वियोग में प्रेमिका तड़प रही है वह कहती है कि हे नाथ, तुम ही मेरे प्राण हो अर्थात् बिना प्राण के जीवन संभव नहीं है, मैं तुम्हारे दर्शन के लिए प्यासी हूँ, मेरी विरहाग्नि को तुम ही बुझा सकते हो ।

" मंत्र न फुरैं जन्त्र नहिं लागे आयु सिरानी जात
सूर स्याम बिनु विकल बिरहिनी मुरि मुरि करवट खात
घड़ी एक नहिं आवड़ै, तुम दरसण बिनु मोई
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होई ।(सूरदास)

14 सो मेरा रांम कबै घरि आवै,

ता देखें मेरा जिय सुख पावै ।।

बिरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूं होइ सराई

निस बासुर मन रहै उदासा, जैसे चातिग नीर पियासा

कहै कबीर अति आतुर ताई, हम कौ बेगि मिलौं रांम राई ।।

भावार्थ:- विरह विकला जीवात्मा अपने पति राम से कहती है, आप मेरे घर कब आओगे ? आपके दर्शन से ही मेरा हृदय सुख पाता है । आपके विरह में मेरा शरीर जल रहा है । आपके दर्शन रूपी जल के बिना वह किस प्रकार शांत हो सकती है । जिस प्रकार चातक स्वाति नक्षत्र के जल के लिए प्यासा रह कर व्याकुल रहता है उसी प्रकार आपके अभाव में मेरा हृदय रात-दिन बेचैन रहता है । कबीर दास की जीवात्मा कहती है कि राम से मिलने के लिए मैं अत्यंत व्याकुल हूँ । हे स्वामी रांम । आप मुझ से शीघ्र ही मिलें ।

विशेष:- आत्मा रूपी पत्नी परमात्मा के वियोग में तड़प रही है । पत्नी को तभी सुख मिलता है जब वह अपने पति के दर्शन करती है । उसका मन चातक पक्षी की तरह प्रभु के प्रेम में व्याकुल है । उसे भी चातक की तरह ही परमात्मा के दर्शन की आस है । इस पद में प्रेम की अनन्यता और व्याकुलता है । दाम्पत्य प्रेम प्रतीकों का वर्णन है ।

15. मेरी मति बौरी रांम बिसारयौ, किहि विधि रहनि रहूँ हो दयाल
सेजै रहूँ नैन नहीं देखौं, यह दुख कासौं कहूँ हो दयाल ।।
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे
नणद सहेली गरब गहेली, देवर कै विरह जरौं हो दयाल
बाप सावकौ करै लराई, माया मद मतिवाली
सगौं भइया लै सलि चढिहूँ, तब ह्वै, हूँ पीयहि पियारी
सोचि विचारी देखौं मन मांहीं, औसर आइ बन्यू रे
कहै कबीर सुनहुं मति सुंदरि, राजा रांम रमूं रे ।। {230}

भावार्थ:- विषयासक्ति में पड़कर मेरी बुद्धि पागल हो गई है । इस कारण मेरे पति राम मुझे भूल गये हैं । मैं सदैव अपने पति की शैय्या पर रहती हूँ फिर भी उन्हें प्रत्यक्ष नहीं देख पाती, मैं अपना यह दुख किससे कहूँ । मैं अज्ञान रूपी ससुर की प्रिय हूँ और माया रूपी सास से दुखी हूँ । बुद्धि रूपी ननन्द मेरी सहेली है और जेठ के त्रास से भयभीत हूँ । मन रूपी देवर के विरह से व्यथित हूँ । अहंकार रूपी पिता से निरन्तर झगड़ा रहता है । माया रूपी माता नित्य नशे में चूर रहती है । मैं अपने सगे भाई रूपी बोध के साथ चिता पर रहूँगी तब मैं अपने प्रियतम को प्यारी हो जाऊँगी । अर्थात् मैं इस संसार को छोड कर परमात्मा का प्रिय हो जाऊँगी ।

विशेष:- जीव और ब्रह्म का शाश्वत अभेद है । अज्ञान के कारण जीवात्मा परमात्मा से अलग हो गई है । जब उसे बोध होता है तब वह प्रिय को पाने के लिए साधना करती है तब उसे प्रभु के दर्शन होते हैं अर्थात् परमात्मा से साक्षात्कार होता है । आत्मा परमात्मा के प्रेम, विरह को लौकिक प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट किया है । यह संसार पत्नी रूपी आत्मा का नैहर है वह यहाँ रहने से उकता गई है और पति के पास जाना चाहती है । आत्मा और परमात्मा

का पति-पत्नी के रूप में वर्णन किया गया है । दाम्पत्य भाव का आवरण इस विरह वेदना का बिंब बन गया है ।

16. हो बलियां कब देखोंगी ताहि
अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसी ब्यापै मोहि ।।
मैन हमारे तुम्ह कूं चाहैं रती न मानैं हारि
विरह अगिन तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु विचारी ।
सुनहु हमारी दाद गुसांई, अब जिन करहु बधीर
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भांडै नीर
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर
देह छंता तुम्ह मिलहु कृपा किर आरतिवंत कबीर ।। {305}

भावार्थ:- कबीर की आत्मा रूपी पत्नी पति के वियोग में तड़प रही है । विरह व्यथा उसे इतना सता रही है कि वह प्रभु के दर्शन के लिए व्याकुल है । वह कहती है मैं आपकी बलिहारी जाती हूँ । मेरे नेत्र केवल तुम्हे ही देखना चाहते हैं वह रत्ती भर भी पीछे हटने के लिए तैयार नहीं है । विरहाग्नि मेरे शरीर को बहुत जलाती है । कहीं ऐसा न हों कि मैं आपके दर्शन के बिना ही विरहाग्नि में जल कर मर जाऊँ । हे स्वामी । आप मेरी विनती सुन लीजिए, आप तो धैर्य स्वरूप है परन्तु मैं आतुर हैं , आपके दर्शन के लिए उतावली हो रही हूँ । मेरे प्राण इस शरीर रूपर घड़े से बाहर निकलने के लिए बेचैन है अर्थात् आपके विरह में मेरे प्राण भी जा सकते हैं इसीलिए हे स्वामी । मुझे इस शरीर में प्राण रहते ही अपने दर्शन दीजिए ।

विशेष:- कबीर ने भगवत् प्रेम का बिंब विधायक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है । सूफी शैली की दाम्पत्य प्रेम परक विरह व्यथा की तीव्रता की सफल अभिव्यक्ति हुई है । कबीर ने मिलन की आतुरता को

कई स्थानों पर व्यंजित किया है । "कबीर" शरीर के रहते ही भगवान के दर्शन की इच्छा करते हैं इसका अर्थ है कि वह मोक्ष की इच्छा न करके जीवन मुक्त होना चाहते हैं । यहाँ पर कबीर की आकांक्षा सगुण भक्तों जैसी है ।

17. वै दिन कब आवैंगे माई ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाई ।।
हौं जांनूं जे हिल मिलि खेलूं, तन मन प्रांन समाई ।
या कामनां करौं पर पूरन , समरथ हौ रांम राइ
मांहि उदासी माधौ चाहैं, चितवन रैंनि बिहाइ
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ
यहु अरदास दास की सुंनिये, तन की तपनि बुझाई
कहै कबीर मिले जे सांई, मिलि करि मंगल गाइ ।। {306}

भावार्थ:- कबीर की आत्मा रूपर पत्नी कहती है हे सखि, वे दिन कब आएँगें जब मैं राम से शरीर सहित मिल सकूँगी । जिस कारण मैं यह मानव शरीर धारण कर रही हूँ वह मेरा उद्देश्य कब पूरा होगा । मैं अंग से अंग मिला कर प्रभु के साथ मिलना चाहती हूँ । मैं अपने स्वामी के साथ हिल मिल कर खेलना चाहती हूँ तथा उसके तन, मन और प्राणों में समा जाना चाहती हूँ । मेरी यह मनोकामना कब पूरी होगी । मेरी यह इच्छा माधव अर्थात् भगवान ही पूरी कर सकते हैं । मेरे पति के बिना यह सेज काटने को दौड़ती है । हे राम मैं आपके विरह में जल रही हूँ अपना प्रेम बरसा कर यह तपन बुझा दीजिए । हे प्रभु मुझ पर दया कीजिए और अपने दर्शन देकर मुझे तृप्त करे तों मैं मंगल मिलन के गीत गाऊँगी ।

विशेष:- कबीर ने स्वाभाविक ढंग से आत्मा–परमात्मा के प्रेम की व्याख्या सगुण भक्तों की भाँति की है । कबीर की आत्मा रूपी पत्नी अपने प्रियतम से मिलने व्याकुल है । पति के विरह में उसे शय्या भी सिंह के समान प्रतीत होती है जो काटती है सोने नहीं देती । जीवात्मा तन, मन और प्राणों के साथ परमात्मा के प्रेम में खो जाना चाहती है । पति परमेश्वर के गुणों में तन्मय हो कर रसास्वादन करना चाहती है । सूफियों की शैली तथा रहस्यवादी प्रेम का स्पष्ट प्रभाव है । मिलन के लिए व्याकुलता, प्रतीक्षा, विरह आदि भावनाएँ सगुणवादी भक्तों की तरह है । दाम्पत्य प्रेम प्रतीक का सफल प्रयोग किया गया है । ज्ञान, भक्ति और प्रेम का सहज वर्णन कबीर ने इस पद में किया है ।

18. बालम आव हमारे गेह रे ,
तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।।
सब को कह तुम्हारी नारी, मो कौं इहै अदेह रे ।
एक मेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे ।
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे
ज्यूं कामीं कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सूं कहै सुनाई रे
ऐसे हाल कबीर भये हैं , बिन देखे जीव जाइ रे ।।

भावार्थ:- जीवात्मा रूपी पत्नी अपने पति के वियोग में कहती है हे प्रीतम, तुम कब हमारे घर आओगे । तुम्हारे वियोग में मेरी देह अत्यंत दुखी है । सब लोग कहते हैं कि मैं तुम्हारी पत्नी हूँ परन्तु तुम मुझे एक बार भी दर्शन नहीं देते । मैं यह कैसे मान लूँ कि तुम मेरे पति हो क्योंकि जब तक मैं तुम्हारे साथ एक सेज पर नहीं सोती और तुम्हारा प्रेम नहीं पाती मुझे यह विश्वास नहीं होता ।

मुझे न ही अन्न अच्छा लगता है और न ही नींद आती है मुझे किसी भी क्षण चैन नहीं है । जिस प्रकार कामी पुरुष को वासना प्रिय होती है तथा प्यासे को पानी उसी तरह मुझे भी आप प्रिय है । ऐसा कोई है जो मुझ पर उपकार करके मेरी व्यथा का वर्णन पति परमेश्वर से करे । अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के बिना मैं नहीं रह सकती । मेरे प्राण निकल सकते हैं ।

विशेष:- प्रभु के प्रेम और विरह का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रण है । आत्मा-परमात्मा के दाम्पत्य प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति है । बालम, गेह, नारी, सेज इत्यादि प्रतीकों के माध्यम भगवान की प्रेम लीला का वर्णन है । सगुण भक्ति कवियों के प्रेम पद्धति के लक्षण कबीर के इस पद में व्यंजित हुए हैं । नींद नहीं आना और कुछ भी अच्छा नहीं लगना प्रेमी के अशान्त मन की अवस्था है । इसी प्रकार का वर्णन मीराबाई के पद में भी देखा जा सकता है ।

धान न भावै नींद न आवै, विरह सतावै मोइ
घायल सी घूमत फिरूँ, दरद न जाणे कोई ।

§मीराबाई§

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो तुलसीदास ने भी कामी और लोभी पुरुष की तुलना अपने प्रेम से की है ।

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।

§गो. तुलसीदास§

19. रैनि गई मति दिन भी जाइ,
भंवर उड़े बग बैठे आइ ।।
कांचै करबै रहैं न पानी , हंस उड़या काया कुमिलांनीं ।
थरहर थरहर कंपै जीवं, नां जानूं का करिहं पीव ।
कउआ उड़ावत मेरी बहियां पिरांनी, कहै कबीर मेरी कथा सिरांनी ।।
{360}

भावार्थ:- कबीर ने जीवात्मा रूपी पत्नी का परमात्मा रूपी पति से मिलने के पूर्व की स्थिति का वर्णन किया है । पत्नी अपने पति से पहली बार मिल रही है । उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि पति उससे क्या कहेंगें । वह पिया से मिलने संकोच कर रही है । यौवन रूपी रात्रि पति से उत्कट प्रेम रखते हुए भी वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण व्यतीत हो गई । वह कहती है कि कहीं वृद्धा-वस्था भी पति मिलन के बिना ही चली न जाय । प्रियतम से मिलन में देर होने के कारण यह मन व्याकुल है जिस प्रकार कच्ची मिट्टी का घड़ा ज्यादा देर नहीं रह सकता । पति के आगमन की प्रतीक्षा में कौए उड़ाते मेरी बांहे दुख रही है । परमात्मा से मिलन के लिए आत्मा उत्सुक है ।

विशेष:- सरल लौकिक बिंबों द्वारा कबीर ने स्वाभाविक पति-पत्नी के प्रेम माध्यम से आत्मा परमात्मा के प्रेम का वर्णन किया है । रहस्य-वादी प्रेम की मार्मिक व्यंजना की गई है । कामासक्ति के इस भक्ति पद में भक्ति-भावना एवं लौकिक प्रेम की रसावस्था का वर्णन है । इस पद में सूफी पद्धति की विरह-व्यंजना है । ज्ञान, भक्ति और रहस्यवाद तीनों का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है । श्रृंगारिक कवियों की भांति कामासक्ति का वर्णन इस पद में दिखाई देता है ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक "कबीर" से कुछ पद उद्धृत है

1. 15. जहाँ खेलत बसंत रितु राज

.... पुहुप बास रस रह्यो गंभीर । §2-57§

भावार्थ:- कृष्ण की अवधारणा अवतारवाद की पौराणिक अवधारणा है । विष्णु के जो दस अवतार माने गए हैं उनमें कृष्ण प्रमुख अवतार है । कहा तो यह जाता है कि राम अंशावतार है और कृष्ण पूर्ण अवतार है । कृष्ण को लीला पुरुष माना जाता है । इस पद में कबीर "कोटि कृष्ण जहँ जोड़े हाथ" जब कहते हैं तब यह तो स्पष्ट है कि वे कृष्ण की अवतारी अवधारणा को स्वीकार करते हैं और जाने अनजाने रूप में यह उनके संस्कार और उनकी चेतना को प्रभावित कर गया है । यह अन्य बात है कि ब्रह्म की जो उनकी निर्गुण अव-धारणा है उसके अधीनस्त वे कृष्ण को दिखलाते हैं । सर्वोपरि ब्रह्म है और करोड़ों कृष्ण उसके अधीन है लेकिन कृष्ण को स्वीकार कर लेना अपने आप में ब्रह्म की पूर्ण निर्गुण अवधारणा का विग्रहण है ।

2. §18§ देख दीदार मस्तान मैं होय रह्या

.... मरन का मिटा फेरा ।§2-61§

भावार्थ:- कबीर परमात्मा से कहते हैं कि तुम्हारा दीदार पाकर, तुम्हारा पूरा प्रकाश देख कर मैं मस्त हो रहा हूँ हालाँकि यह प्रसंग निर्गुण का ही है लेकिन शंकराचार्य के निर्विकल्प ब्रह्म की तरह नहीं है । चूँकि इसमें प्रेम दीपक का समावेश हो गया है, प्रेम तत्व का संक्रमण हो गया है इसलिए निर्गुण गल गया है और ठोस होने लगा है यही कारण है कि कवि उसका दीदार पाता है । निर्विकल्प निर्गुण का दीदार संभव नहीं है । प्रेम तत्व निर्विकल्प को थोड़ा सवि-कल्प बना देता है । प्रेम वह कीमिया है जो निर्गुण को थोड़ा

आकार देने लगता है और भक्ति आन्दोलन का केन्द्रिय वक्तव्य प्रेम है ।

3. §31§ निस दिन सालै घाव, नींद आवै नहीं ।

.... तन मन वार दगो ।§2-100§

भावार्थ:- इस पद में विरह की व्याकुलता का चित्र है । भक्त विरहिणी नायिका की तरह इस संसार को नैहर की तरह देखती है और प्रियतम के मिलन की आशा में प्रतीक्षा कर रही है । समाधि के द्वारा घर में प्रकाश फैलता है, पुरुष से भैंट होती है और भक्त रूपी विरहिणी अपने तन-मन को प्रिय पर वार देती है । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि कबीर केवल मन के वारने की बात नहीं कहते हैं, मन का वारना निर्विकल्प , निर्गुण ब्रह्म के संदर्भ में सहज संभव है पर तन का वारना, तन का तन से स्पर्श जो किसी न किसी रूप में ऐन्द्रिक आनन्द को जन्म देगा शरीरधारी पुरुष के संदर्भ में ही संभव हो सकता है । अगर ऐसा अर्थ नहीं होता है तो " भयो है पुरुष सो भैंट" की कोई संगति नहीं बैठती है । यहाँ कबीर के भीतर जो विरहिणी नारी है वह मीरा से मिलती-जुलती है । मीरा के गिरिधर गोपाल और कबीर के पुरुष बहुत दूर तक मिलते-जुलते हैं । कबीर ने प्रेम करने के लिए नारी की आत्मा धारण कर ली है ।

4. §34§ मोंहि-तोंहि लागी कैसे छुटे

.... जैसे सरिता सिंध समाई । §2-110§

भावार्थ:- इस पद में 31 में व्यक्त भाव का ही विस्तार दिखता है । कवि नारी आत्मा धारण कर परमात्मा रूपी पुरुष उलझ गया है । कवि प्रेम के इस आकर्षण को चन्द्रमा के प्रति चकोर के माध्यम से व्यक्त किया है और फिर जैसे समुद्र में समाजाती है वैसे ही आत्मा-परमात्मा में समाजाती है । ऐसे ठोस प्रतीकों और सादृश्य विधान के द्वारा कवि अपनी प्रेम भावना को व्यक्त करते हैं ।

5. §35§ बालम आव हमारे गेह रे

.... जिव जाय रे । §2-113§

भावार्थ :- लीला प्रेम से जन्म लेती है और प्रेम देह और आत्मा दोनों का धर्म है । देहवाद को हम प्रेम से मुक्त नहीं कर सकते और लीला देह के बिना नहीं हो सकती । ब्रह्म प्रेम करने के लिए, लीला करने के लिए जीवात्मा की देह से खेलता है, देह के दुख-सुख होते हैं । इस पद में कबीर देह की पीड़ा का वर्णन कर रहे हैं । अपने प्रियतम को ,पति को घर बुलाते हैं , प्रेम अपना कुम्बा बना लेता है वह घर खड़ा कर लेता है , घर में देह रहती है यह सारे तत्व निर्गुण को गला देते हैं । जब सब कोई मुझे तुम्हारी स्त्री बतलाता है तब मुझे लाज लगती है । इस प्रकार धीरे-धीरे प्रेम सगुण गढ़ने लगता है । यह ठीक है कि सगुण की पूरी आवधारणा बाद में राम भक्ति और कृष्ण भक्ति साहित्य में होती है लेकिन सगुण का गर्भाधान कबीर जैसे निर्गुणिया संतों में ही पूरी तरह हो जाता है ।

6. §36§ जाग पियारी अब का सोवै

.... उर अंतर लागै । §2-126§

भावार्थ:- सगुण मार्गी कवियों ने जैसे सूरदास,मीरा आदि ने कृष्ण के साथ गोपियों की सेज लीला का वर्णन किया है । शय्या का खेल लीला का सबसे अधिक ऐन्द्रिक खेल होता है । निर्गुण ब्रह्म के स संदर्भ में शैय्या का खेल संभव नहीं इसलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा के चरम साक्षात्कार के तन्मय क्षणों का वर्णन निर्गुण भक्ति काव्य में ऐन्द्रिक महोत्सव के रूप में मिलता है । कबीर इस पद में कृष्ण का नाम नहीं लेते हैं लेकिन जो लीला का वर्णन है, जो नारी के अनाड़ीपन का वर्णन है वह गोपी लीला से मिलती जुलती है । यहाँ ब्रह्म पुरुष बन गया है और वह लीला का खेल खेल रहा है ।

7. §51§ सखियो, हमहूं भई बलमासी ।

.... बर पाये अबिनासी । §1-129§

भावार्थ:- कबीर बालम से प्रेम पत्र मिलने की बात करते हैं । पत्र लिखना निर्गुण का काम नहीं हो सकता है । इसे लाक्षणिक अभिव्यंजना भी माने तब भी पत्र लिखने में सगुण की अवधारणा और लीला की अवधारणा आ जाती है । पद §52§ में कबीर प्रियतम के बिना सूनी सेज पर नारी की व्याकुलता का वर्णन करते हैं । चूंकि प्रियतम सेज पर नहीं है, इसलिए उसे नींद नहीं आ रही है । उसके कलेजे में दर्द हो रहा है, जीवात्मा की सारी व्याकुलता अरूप को रूप देने लगती है ।

8. §59§ खसम न चीन्हैं बावरी, का करत बड़ाई

.... खोजा सो पाई । §1-52§

भावार्थ:- जीवात्मा रूपी प्रिया को कवि बावरी कहता है यह बावरापन प्रेम की परिणति है कवि उसे प्रेम का सार खोजने की बात करता है । वह यह भी कहता है कि केवल बातों से लगन नहीं होता । बात करना, बात में बात निकालना ज्ञानी और पंडितों की विशेषता है, ज्ञानी और पंडित प्रियतम को नहीं पाता है । प्रेम का सार कुछ और ही है कवि इस बात को बार-बार दोहराता है ।

9. §64§ साँईं से लगन कठिन है भाई

.... नाहिं तो जनम नसाई । §1-117§

भावार्थ:- साईं से लगन होना कठिन मामला है । कवि प्रेम की इस कठिनाई को लौकिक प्रतीकों के द्वारा प्रेम के स्वीकृत सादृश्य विधानों द्वारा व्यक्त कर रहा है । जैसे पपीहे का पिय पिय रट लगाना , मृग का संगीत सुनना और सती का हँसते हँसते आग में बैठ जाना । यही तो लौकिक प्रतीक है जिसका उपयोग सगुण मार्गी कवि बार-बार करते हैं । कबीर दास ने भी अपने प्रेम की अभिव्यक्ति इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से की है ।

पंचम अध्याय

परवर्ती सगुण भक्ति आन्दोलन में लीला के रूपान्तरण की प्रक्रिया

1. भारतीय धर्म साधना
1. 1. निर्गुण और सगुण भगवान् का रूप
1. 2. निराकार ब्रह्म का स्वरूप
1. 3. मूर्त तथा अमूर्त रूप
1. 4. ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार
2. निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म की कल्पना
2. 1. सगुण साकार की उपासना का मनोवैज्ञानिक कारण
2. 2. कारण - कार्य अवस्था
2. 3. साकार - निराकार एक रूप
2. 4. निराकार का साकार रूप
2. 5. निर्गुण निराकार का साकार रूप में परिवर्तन
3. निर्गुण प्रेम लीला का सगुण भक्ति पर प्रभाव
3. 1. कृष्ण धारा पर प्रभाव .
   i. मीरा, सूर .
3. 2. राम धारा पर प्रभाव
   i. तुलसी .

-:परवर्ती सगुण भक्ति आन्दोलन में लीला के रूपान्तरण की प्रक्रिया:-

1. भारतीय धर्म साधना

भारतीय धार्मिक साधना के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रारंभिक वैदिक युग में साधना कर्मकाण्ड प्रधान रही होगी तथा उन दिनों साधकों का अधिक से अधिक समय देवपूजन, पितृपूजन एवं यज्ञादि के अनुष्ठानों में व्यतीत रहा होगा । इस के उपरान्त ही हमें औपनिषदिक युग से ही धार्मिक साधना का क्रमशः ज्ञान प्रधान होते जाने के प्रमाण भी मिलते है । औपनिषदिक युग के अन्त तक आते आते साधकों की मनोवृत्ति भक्ति की ओर उन्मुख होने लगी थी । संवत् 1400 के आस पास जिस धार्मिक स्थिति के संकेत मिलते हैं उसमें भक्ति साधना का प्राधान्य था तथा उन दिनों प्रचलित विभिन्न संप्रदायों के कारण यह स्पष्ट था कि उसमें न केवल श्रद्धा एवं प्रेम अपितु तंत्रोपचार भरी उपासना, ज्ञानमूलक आस्था, शुद्ध रागानुराग भावना, योगाश्रित अभ्यासों के प्रयोग एवं व्यापक मानव प्रेम जैसी अनेक बातों का समावेश होता गया । जिसके फलस्वरूप यह प्रश्न उठने लगा था कि जो कोई सत्ता साधकों के लिए आराध्य है उसका वास्तविक रूप कैसा और क्या हो सकता है ? क्या हम उस पर विविध सात्विक गुणों का आरोप कर तथा उसे दया दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त मानकर और उसमें यह विश्वास करते हुए कि वह अपने भक्तों का दुख दूर करने के लिए विभिन्न अवतार धारण किया करता है उसे "सगुण" कहें अथवा उसे निर्गुण वा गुणातीत कहें ।

निर्गुण संप्रदाय के सन्त कवियों के साहित्य को शुद्ध रूप में निराकार की उपासना से संबंधित माना जाता रहा है । हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल एक ऐसा काल है जिसमें रचनायें शुद्ध साहित्य सृजन की भावना से प्रेरित न होकर इष्ट देव की उपासना से अनुप्राणित है । उपासना का उद्देश्य आत्म स्वरूप को जान कर उसमें लीन होना है । उपासना चाहे ज्ञान मार्ग की हो चाहे भक्ति मार्ग की अथवा कर्म याग की उसमें लौकिक श्रृंगार के अलौकिक रूप , मधुर रस का

योग हो ही जाता है । यही कारण है कि निर्गुण संप्रदाय के साधक भी किसी न किसी मूर्त आलम्बन की झांकी अपने हृदय में संजोये रहते हैं ।

2. निर्गुण सन्तों की साधना एवं स्वरूप .

निर्गुण भगवान का रूप:-

"निर्गुण" शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में भी किया गया है और वह प्राय: उसी तत्व की ओर निर्देश करता है जिसका निर्गुणवादियों ने संकेत किया है । "श्वेताश्वतर उपनिषद" में यह उस अद्वितीय "देव" का एक विशेषण बन कर आया है जो सभी भूतों में अंतर्हित है, सर्वव्यापी है , सब का साक्षी है, सब को चेतनत्व प्रदान करने वाला है तथा निरुपाधि भी है । श्रीमद-भागवत में इसी तरह के निर्गुण की ओर संकेत किया गया है उसमें सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है पर उसमें कोई इन्द्रिय नहीं, वह सबसे अनासक्त रहकर भी सब का पालन करता है तथा निर्गुण होता हुआ भी सभी गुणों का उपयोग करता है । उपर्युक्त भावना वाले कवियों की उपलब्ध रचनाओं पर विचार करते समय हमें यह ज्ञात होता है कि वे अपने इष्ट देव या आराध्य को वस्तुत: अगम, अनिर्वचनीय कहते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि वे अपने भीतर उसका अनुभव करते है । ये लोग उस निर्गुण तत्व के विषय में स्वंय को पूर्णत: अनजान बताते हैं किन्तु उसके साथ अपना अत्यंत निकट संबंध स्थापित करने के लिए भी प्रस्तुत है । समर्थ रामदास के अनुसार " स्वंय अपने को भक्त कहना और उस से {भगवान} से "विभक्त" रह कर उसकी भक्ति करना कुछ विलक्षण सा लगता है क्यों कि भक्त वही हो सकता है जो "विभक्त" न हो और वही विभक्त हो सकता है जो भक्त न हो । इसलिए इन की साधना निर्गुण भक्ति ही प्रतीत होती है और इन की रचनाओं में कुछ उदाहरण सगुण भक्ति के मिलते हैं । इन सन्तों की प्रवृत्ति अपने आराध्य को कोई अनुपम व्यक्तित्व प्रदान कर देने की है इसलिए कहीं ये

माता, पिता, सद्गुरु अथवा गूढ़ प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए दाम्पत्य भाव का सहारा लेते हैं । सगुण भक्ति के जो नौ प्रकार है श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन जैसे रूपों में बतलाए जाते हैं उन्हें निर्गुण भक्ति में भी सिद्ध किया जा सकता है । निर्गुण भक्तों की अद्वैतवादी मनोवृत्ति के अनुसार उनमें परिवर्तन आ जाया करता है और यदि उनके साथ प्रेमाभक्ति जोड़ कर "नवधा" की जगह "दशधा" रूप में दिया जाय तो हमें इस अभेदमयी भक्ति साधना के वास्तविक स्वरूप को समझने में सरलता होगी । निर्गुण भक्ति में के आकर्षक होने में इसके इष्टदेव व गुणातीत परमतत्व का रहस्यमय होना भी बाधक नहीं क्योंकि इस रहस्यमयता के कारण उसके सौंदर्य में कमी नहीं आती ।

निर्गुण संप्रदाय के इष्टदेव की मूर्त आलंबन की झांकी जो हृदय में स्थित है वह उसे रूप देने में असमर्थ है । इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि जीव स्वंय को अल्पज्ञ समझता है और परमात्मा को अपनी वाणी से व्यक्त करने में असमर्थ पाता है । परमात्म तत्त्व की अभिन्नता को जानने के लिए मूर्त आलंबन के उदाहरण ही सरल साधन होते हैं । सन्त कवियों ने निर्गुण परमात्मा का गुण गान किया है किन्तु अन्तराल में प्रियतम की प्रतिमा परिलक्षित होती है । यह प्रतिमा अस्पष्ट सी है । कबीर ने इस अस्पष्ट रूप को कुछ रेखाचित्रों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो कुछ हद तक सफल भी है । इस अस्पष्ट प्रतिमा का कारण है । सन्त कवियों का साहित्य अनुभूति प्रधान है कल्पना प्रसूत कम । उन्होंने अपने प्रियतम का साक्षात्कार किया है । परम प्रियतम के साक्षात्कारोपरान्त उस की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती । तुलसी जैसे सगुणवादी भक्त कवि ने भी स्वीकार किया था कि --

"सोइ जानइ जिहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि होइ जाई ।"

जो एक बार प्रियतम का साक्षात्कार कर लेता है , अर्थात् उसे जान लेता है उसी में लीन होजाता है, उसी के रंग में रंग जाता है फिर वह उसका बखान कैसे करे । यह तो असंभव कार्य है । ऐसी स्थिति में उसकी अभिव्यक्ति का प्रयास करने पर भी अभिव्यक्ति हो पाना कठिन है । यदि अभिव्यक्ति होगी भी तो अस्पष्ट ।

सगुण भगवान का रूप:-

सगुणवादी भक्तों का साहित्य कल्पना प्रधान है । इसीलिए उन्होंने अपने प्रेम को कल्पना के माध्यम से साकार रूप देने का सफल प्रयास किया है । वे स्वभावत: किसी न किसी अलौकिक रूप की कल्पना कर उसमें अनन्त शक्ति एवं ऐश्वर्य का समावेश कर देते थे तथा उसमें उच्चातिउच्च मानवीय गुणों के आ जाने के कारण उसके साथ अपने किसी विशिष्ट संबंध के अनुसार व्यवहार करना अपना परम कर्तव्य समझा करते थें । वे उसके सदेह प्रत्यक्ष न रहने पर उसके विग्रह वा मूर्ति तक की उपासना करने लगते तथा उसके लिये विशाल मंदिरों की रचना किया करते । इसके विपरित निर्गुणवादी उसे निराकार ठहराकर उसे सर्वव्यापी और एकमात्र परमतत्व मानते हैं जिससे उनका रूप स्पष्ट होकर सामने नहीं आ सका । भक्त के अर्थ में सामान्यत: निर्गुण और सगुण उपासना की दृष्टि से संतों में कोई भेद नहीं है । उक्त भेद के आधार पर ही साहित्य के इतिहास में भक्तिमार्ग की दो शाखाएँ मानी गयी है, निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति । यद्यपि दोनों प्रकार की भक्तियों में समानताएँ बहुत हैं तथापि इन में भक्ति के प्रकारों के साथ-साथ भक्तों की रचनाओं में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, दार्शनिक दृष्टि से एक केवल निर्गुण ब्रह्म का उपासक है दूसरा सगुण भगवान का । वस्तुत: सगुण भक्त भी अपने को पूर्ण अद्वैत निर्गुण ब्रह्म के ही उपासक समझते हैं परन्तु ये राम या वसुदेव कृष्ण को उस ब्रह्म का अवतार मान कर उनकी मूर्तियों की पूजा करते हैं ।

भक्त आचार्य रामानुज भी निर्गुण ब्रह्म को मानते हैं, पर उनका अर्थ "प्राकृत गुणों से हीन" और दिव्य गुणों से युक्त बतलाते हुए उसके विभव का अवतार मानते हैं । दूसरी ओर निर्गुणी कहे जाने वाले संत अवतारों और मूर्तियों को न मानकर केवल दया आदि गुणों से युक्त निराकार को मानते हुए भाव-भक्ति या प्रेम भक्ति करते हैं ।

निर्गुण, निरंजन का अर्थ शून्य का अनात्म कभी नहीं था । सांख्य का निर्गुण पुरुष भी भावात्मक सत्ता वाला था । निर्गुण भक्ति जो वेद और सांख्य योग समन्वित थी उसमें सगुण मत का मेलन था । भागवत या वैष्णव धर्म का संपूर्ण साहित्य सगुणाश्रयी होते हुए भी उसमें ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही माना गया है और उसमें मूलत: ऊँच नीच के लिये कोई स्थान नहीं है । संतों का उपास्य परमात्मा या भगवान् निर्गुण निराकार होने पर भी, अभाव वा शून्य रूप निर्गुण नहीं है । वह प्राय: सगुण निर्गुण दोनों से परे कहा गया है, पर उसका तात्पर्य उसके स्वरूप को उलझाना नहीं है । वस्तुत: उसका यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता पर सगुण निर्गुण से परे कहने का तात्पर्य यह है कि वह सर्वव्यापक हुए भी दिखाई नहीं देता । उसका रूप "गीता" में जैसे कृष्ण ने कहा है "मैं क्षरातीत हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ .. इसी से लोक में पुरुषोत्तम विख्यात हूँ । क्षर सगुण प्रकृति है, अक्षर निर्गुण पुरुष वा आत्मा दोनों से परे और दोनों का ईश वह एक देव है । वही संतों का उपास्य है ।

संतों ने अपने उपास्य को कोई एक नाम नहीं दिया, उसे जिस नाम से चाहे पुकारा जा सकता है क्योंकि सर्वत्र वही विद्यमान है । भागवत परंपरा के अनुसार संतों ने ज्ञान, योग या कर्म को प्रधानता न देकर उससे अपना संबंध जोड़ने और स्वंय को उस में लीन करने पर ही विशेष बल दिया है । उसे राम, कृष्ण, गोविन्द आदि विष्णु के अनेक नाम भी दि गए हैं किन्तु उपनिषदीय परंपरा के अनुसार उसे अवतार या मूर्तियों में अवतरित नहीं होने दिया । इस दृष्टि से निर्गुणियों को उपनिषदीय भक्ति का वैष्णव संस्करण या वैष्णव निर्गुण भक्ति कहा जा सकता है ।

निराकार ब्रह्म का स्वरूप

निर्गुण संप्रदाय के संत कवियों का अध्ययन किया जाये तो यह पता चलता है कि उनके साहित्य में भी सगुण भक्तों की माधुर्य भावना प्रतिष्ठित हुई है । यह माधुर्य भावना मर्यादा में रहकर ही की गयी है यह सगुण भक्तों की भांति परकीया भाव को ग्रहण करके नहीं चलती । सगुण भक्तों की माधुर्य भावना तथा निर्गुण भक्तों की माधुर्य भावना में एक अन्तर है । निर्गुण संत कवियों में प्रेम आत्म प्रक्षेपन के रूप में है । भक्त और भगवान भिन्न होते हुए भी अभिन्नता को स्वीकार करके चलते हैं । भक्त स्वंय को ही भगवान की प्रेयसी, पत्नी, प्रियतमा के रूप में देखता है । यह प्रेम लीला भक्त और भगवान की है । सगुण भक्त भगवान को भिन्न मान कर चलते हैं । वह भगवान की प्रेम लीला का वर्णन करता है वह इस लीला का आनंद लेता है, अर्थात् वह इस लीला का द्रष्टा है । भगवान की इकाई को स्त्री पुरुष के रूप में बाँट कर उनकी लीला का रस लेता है । जैसे राधा-कृष्ण, राम-सीता आदि । निर्गुणी भक्त स्वंय को इस लीला का भागीदार बना लेता है । निर्गुणों की भक्ति सूफियों की मधुरा भक्ति से भिन्न है । सन्तों ने पत्नी रूप में जीवात्मा, प्रियतम रूपी परमात्मा के ब्रह्म स्वरूप को ग्रहण किया है । जीवात्मा रूपी प्रेयसी परमात्मा रूपी प्रियतम के चरणों में पूर्ण समर्पण करके तदाकार हो जाती है । जब तक यह तदाकार परिणति नहीं होती तब तक उसे प्रेम की संज्ञा नहीं दी जा सकती । इस तथ्य का कथन संतों ने सर्वत्र किया है । यह तदाकार परिणति जीवात्मा के स्त्रीभाव से संभव है पुरुष भाव से नहीं । संतों का संपूर्ण साहित्य सर्वत्र माधुर्य भाव से ओत-प्रोत है । इसका अन्वेषण करने पर उसमें सगुण भक्ति में मान्य विभिन्न नायिकाओं के रूप भी दृष्टिगत होते हैं । परिच्छन्न जीवात्मा के लिए ब्रह्म के स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन है । शब्दों द्वारा उसके वास्तविक रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता । उस ब्रह्म का वास्तविक रूप क्या है वह निराकार है या साकार ? सगुण है निर्गुण ?

वेद में ब्रह्म को जानने का एक मात्र साधन वैदिक मन्त्र, संहिताएं ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद और उन पर लिखे गये महाभाष्य है ।

प्रकृतिक शक्तियों में देवत्व की कल्पना

प्राचीन वैदिक वाड.मय में अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज प्रकृति के अन्दर निहित शक्तियों को देव रूप समझते थे । इसीलिए अग्नि, वरुण, उषा, सूर्य आदि प्राकृतिक प्रतीकों को देव के रूप में पूजा करते थे तथा उन्हें सांसारिक सुख एवं शान्ति प्रदान करने वाले समझते थे । वैदिक युग का प्रारंभिक युग बहुदेववाद का युग था । यहां देवेषु शब्द बहुवचन होने के कारण बहुदेववाद की पुष्टि करता है । विभिन्न देवों की कल्पना के पश्चात् वैदिक आर्यों की विचारधारा अधिक विकसित हुई । आगे चलकर ये लोग बहुदेवों की अपेक्षा एक ब्रह्म को स्वीकार किया । उन्होंने बताया कि ये सब देवता वास्तव में एक ब्रह्म के ही रूप है । इसके प्रमाण स्वरूप ऋचा कहती है ज्ञानी एक ही सत् {ब्रह्म} को इन्द्र मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य इत्यादि बहु नामों से उसका कथन करते हैं ।

" अन्द्रं मित्रं वरुणमाग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गुरुत्मान
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्याग्नि यमं मातरिश्वानु ।।
{ऋ. 2. -264-46}

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि देवता तो बहुत हैं किन्तु उन सबके पीछे परमार्थ तत्व एक ही है । वह एक ही शक्ति जगत् के नाना रूपों में दिखाई देती है । उसके विभिन्न रूप ही जगत् के विभिन्न आकार है । अपनी अद्भुत शक्तियों से विविध रूप धारण करके वह कार्य करता है, वह सर्वव्यापी है ।

वेदान्त के अर्थ में ब्रह्म का और परम पुरुष {विराट पुरुष} के अर्थ में पुरुष का वर्णन चारों संहिताओं में मिलता है । यह वर्णन ब्रह्म विषयक स्वरूप को समुपस्थित करने में महत्वपूर्ण है । वेदों में पुरुष का वर्णन साकार रूप में किया गया है । वेदों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत गीता और भागवत में भी पुरुषोत्तम शब्द परब्रह्म परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

मूर्त तथा अमूर्त रूप:

वास्तव में ब्रह्म के दो रूप है, मूर्त और अमूर्त , परोक्ष-प्रत्यक्ष । मूर्त माया है, अमूर्त सत्य है । ब्रह्म एक ज्योति है और वह ओश्म स्वरूप है वही ज्योति आत्मा है । मूर्त और अमूर्त का द्वन्द्व सर्वत्र पाया जाता है । मूर्त का निर्वचन किया जाता है, अमूर्त अनिर्वचनीय है । मूर्त ब्रह्म का अंश मात्र है, अमूर्त अनन्त है । प्राण अमूर्त है और जन्म उसका मूर्त रूप है पर दोनों ही ब्रह्म रूप है । अत: ब्रह्म का स्वरूप केवल मूर्त या अमूर्त मानना भ्रामक है । उसके दोनों रूप है अन्तर केवल इतना ही है कि मूर्त का कथन किया जा सकता है जब कि अमूर्त अवर्णनीय है

ब्रह्म स्वरुप का साक्षात्कार:-

निर्गुण संतों का प्रतिपादित ब्रह्म स्वरूप इन्द्रियातीत, अव्यक्त, अनन्त, निर्गुण और एकमेवाद्वितीय है । उसके साक्षात्कार का अर्थ उसका अनुभव है । ब्रह्म स्वरुप किसी तरह बतलाया नहीं जा सकता इसीलिए वह अनुभवगम्य है । श्रद्धा तथा प्रेम के द्वारा ही उस अनिर्वचनीय परमात्मा को जाना जा सकता है ।

निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म की कल्पना

अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म कैसे संभव है:-

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अव्यक्त निर्गुण निराकार ब्रह्म से व्यक्त साकार ब्रह्म की उत्पत्ति कैसे संभव हो सकती है । सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार जो वस्तु नहीं है वह हो ही नहीं सकती, और जो वस्तु है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती । इसके अनुसार हीन अव्यक्त से नाम रूपात्मक आकारी व्यक्त कैसे उत्पन्न हो सकता है । सांख्य के मतानुसार निर्गुण निर्विकार पुरुष के साथ ही

त्रिगुणात्मक प्रकृति को अनादि और स्वतंत्र मानकर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है ।"/1/सांख्य कारिका --22}
वेदान्त के अनुसार यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म का अन्तिम अर्थात् निरपेक्ष तथा नित्य स्वरूप निराकार और निर्गुण ही है । किन्तु प्राणी के चंचल चित्त की स्थिरता के लिए उसमें सगुण तथा साकार की झलक दिखाई पड़ती है ।

"निराकार में साकार का आभास दैवी माया है ।"/2/

यही मत श्रीमद्भागवत का है ।

साकार की उपासना का मनोवैज्ञानिक कारण:-

यह निर्विवाद सत्य है कि परमतत्व निराकार तथा निर्गुण है, किन्तु मनुष्य के मन की स्वाभाविक रचना ऐसी है कि जो वस्तु अव्यक्त होती है अर्थात् जिसका कोई विशेष रूप रंग आदि नहीं है जो नेत्रों तथा इन्द्रियों के लिए अगोचर है उसका चिन्तन करते हुए उसमें मन को स्थिर रखना और तदाकार करना कठिन और दुःसाध्य है । क्योंकि मन स्वभाव से ही चंचल होता है । अतः जब तक कोई आधार नहीं होता तब तक मन भटकता रहता है । व्यक्त वस्तु को देखे बिना अव्यक्त की कल्पना नहीं हो सकती । इसीलिए शरीरधारी मनुष्य चित्त की स्थिरता के लिए निर्गुण की अपेक्षा सगुण और उसमें भी साकार सगुण का ही आश्रय लेता है ।

सगुण साकार स्वरूप होकर भी वह परात्पर ब्रह्म अंखड निर्विकारी एवं निरीह है । वह एक है अनेक नही, वह एक अनेक रूप में प्रतिभासित होता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की एक चन्द्र जल प्रतिबिंबित अनेक चन्द्र के रूप में प्रतिभासित होता है, उसी तरह वह एक ब्रह्म, एक परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा में पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ता है । वस्तुतः यह सगुण के भेद से दूर है । सन्त

/1/ "सांख्य कारिका " --22.

/2/ "गीता"--7--14.

कबीर ने भी ब्रह्म के इसी रूप को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है । उनका ब्रह्म शंकराचार्य की तरह पूर्ण निर्गुण निर्विकार नहीं है । वह प्रत्येक जीवात्मा में निवास करता हुआ भी उससे पृथक् है और जीव उसी का अंश है पर उससे अलग हो गया है । इसीलिए वह पुनः उसमें मिल जाना चाहता है । इस मिलन के लिए उसकी व्याकुलता, प्रेम, विरह, लगन आदि ऐसे अनेक माधुर्य भाव जन्म लेते हैं जो सगुण भक्तों से बहुत साम्य रखते हैं । यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि इस तरह के भावों की अभिव्यक्ति से कबीर का ब्रह्म कुछ अस्पष्ट रेखाओं के माध्यम से एक आकार, एक रूप ग्रहण करने लगता है । यह सत्य है कि कबीर ने मूर्ति पूजा, अवतारों का खंडन किया है किन्तु उन्होंने प्रेम के लिए जीव को ब्रह्म के साथ जोड़ने का प्रयास किया है । उनकी दृष्टि में परमात्मा एक विराट पुरूष है और आत्मा उससे छिटकी हुई, बिछडी हुई उसीके शरीर का एक अंग स्त्री है । यहाँ पर कबीर बहुत कुछ वैष्णवों की भाँति लगते हैं । उन्होंने सगुण भक्तों की तरह ही परमात्मा से प्रेम का वर्णन किया है, उसके साथ रमने की बात की है पर यहाँ वह उस प्रेम, विरह, व्याकुलता का भोगी है केवल द्रष्टा या आनन्द लेने वाला नहीं ।

परमतत्व का नाम सत्य है । यह जीवात्मा अर्थात् प्राण सत्य है और उसका भी सत्य वह परमब्रह्म परमेश्वर है । इस प्रकार साकार रूप का वर्णन करके यह भाव दिखाया गया है कि इनमें जो जड़ अंश है वह उसकी अपरा प्रकृति का विस्तार है और जो चेतन अंश है वह उसकी परा प्रकृति है और इन दोनों सत्वों का आश्रय भूत वह परब्रह्म परमेश्वर श्रेष्ठ है । अर्थात् निर्गुण निराकार परमात्मा सगुण परमात्मा का प्रतिषेध नहीं अपितु उसकी असीमता, अनन्तता सिद्ध करती है ।

निर्गुण निराकार रूप ही प्राकृत मन, बुद्धि और इन्द्रियों से अतीत नहीं है, उसका सगुण स्वरूप भी प्राकृत मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है, क्योंकि श्रुतियों और स्मृतियों में सगुण रूप को भी अव्यक्त कहा गया है, वह सगुण ब्रह्म सत्य, तप, ज्ञानादि से प्रत्यक्ष किया जा सकता है । नाम, जप, स्मरण,

ध्यान आदि आराधनाओं से उस सगुण एवं निर्गुण प्रकृति वाले ब्रह्म के प्रत्यक्ष होने में श्रुति-स्मृति दोनों प्रमाण है । व्यक्तावस्था में ही ब्रह्म सगुण नहीं होता, अपितु अव्यक्तावस्था में भी उसे सगुण समझना चाहिए । जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदि प्रकाश तत्त्व प्रकटावस्था में भी उष्णता आदि गुणों से युक्त होते हैं उसी प्रकार वह ब्रह्म भी आराधना और उपासना द्वारा प्रत्यक्ष होने के समय तो समस्त कल्याणमय विशुद्ध दिव्य गुणों से सम्पन्न होती ही है , अप्रत्यक्षावस्था में भी वह उन गुणों से विभूषित होता है । अग्नि आदि तत्त्वों को प्रकट करने के लिए जो साधन बताये गये हैं उसी प्रकार वेदोक्त नियमों का पालन करते हुए आराधना करने पर अप्रकट परमेश्वर प्रकट हो जाता है ।

कारण कार्य अवस्था:-

परब्रह्म की अव्यक्तवस्था कारण अवस्था है तथा व्यक्त अवस्था कार्यावस्था है । जिस प्रकार सर्प कभी कुण्डलाकार हो कर संकुचित हो जाता है और कभी अपनी साधारण अवस्था में रहता है, किन्तु दोनों अवस्थाओं में सर्प एक ही है । साधारण अवस्था में रहना उसका कारण भाव है , कुण्डलादि भाव में प्रकट होने की उसकी शक्ति अप्रकट होती है तथापि उसमें विद्यमान होती है और उससे अभिन्न होती है । कुण्डलादि आकार में उसका स्थित होना कार्य भाव है, उसकी अप्रकट शक्ति का प्रकटीकरण है । ठीक उसी प्रकार कारण अवस्था में परब्रह्म की उपरा तथा परा प्रकृति रूप दोनों शक्तियाँ उसमें अभिन्न रूप से विद्यमान रहती हुई भी अप्रकट रहती है । ब्रह्म के निराकार स्वरूप का जो विशद विवेचन श्रुतियों में प्राप्त होता है वह उसकी कारण अवस्था है । पुराणों में उसके सगुण साकार स्वरूप का विस्तृत वर्णन उसकी कार्यावस्था को लेकर हुआ है । कारण अवस्था में निराकार होने पर भी साकार तत्त्व के संपूर्ण लक्षण उसमें विद्यमान रहते हैं । क्योंकि कार्य कभी असत्कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः कार्यावस्था के सगुण तत्त्व के लक्षण कारणवस्था के निर्गुण तत्त्व में अवश्य ही निहित रहते हैं । सद् कारण से निष्पन्न कार्य भी सद् ही होता है असद् नहीं ।

साकार, निराकार एक रूप:-

भगवान् के साकार विग्रह, दिव्य और नित्य है और वे महान् रहस्यमय परम तत्व है । निराकार ही साकार है और साकार ही निराकार है । निराकार का साकार रश्मि स्वरूप है तो साकार भी निराकार का ही प्रकट अग्नि की भाँति व्यक्त स्वरूप है । दोनों स्वरूप एक होकर नित्य है । यद्यपि निराकार और साकार में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है फिर भी, निराकार भक्त ब्रह्म के स्वरूप में मिल जाना चाहता है और साकार भक्त सर्वदा भगवान् के साकार विग्रह चरणों में लोट रहने में ही परमानन्द का अनुभव करता है ।

निराकार का साकार रूप:-

चाहे शैव हो या वैष्णव सभी का प्रधान विषय है कला के सहारे निराकार को साकार रूप देकर उसे समझने योग्य बनाना । अवांग मनस इन्द्रियों के ज्ञान द्वारा परमात्मा भाव को व्यक्ति विशिष्ट बना देता है । इसी को साकार सगुण भक्ति कहते हैं । इस तत्व का अनुभव सर्वप्रथम नारायण ऋषि ने किया था । इसीलिए परमात्मा को पुरुष संज्ञा देकर उन्होंने "पुरुष सूक्त " के समान कलापूर्ण वस्तु मानव जगत् कोप्रदान की । वैष्णव धर्म के आदि आचार्य अथवा परमात्मा के परम अवतार श्रीकृष्ण ने नारायण ऋषि की जीवन चर्या से मुग्ध होकर अति मानवी महत्त्व प्रदान किया । परमात्मा का नारायण नाम सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है । -/1/ तैतिरीय आरण्यक में यह नारायण शब्द विष्णु के साथ संबंध में मिलता है ।

/1/ Early History of Vaishnav sect-- Rai Chaudhry.
(1620 Edition . page-9)

निर्गुण निराकार का साकार रूप में परिवर्तन:-

निर्गुण भक्ति ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप पर विचार तथा प्रेम करती है । जो अप्रत्यक्ष है उससे जीवन का संबंध नहीं होता । जो विशुद्ध निर्गुण है उसका जीवन के प्रत्यन से संबंध नहीं हो सकता । कबीर का निर्गुण पूरी तरह निर्गुण नहीं है । इसलिए कबीर ब्रह्म के रूप को मोहकला की कल्पना करते हैं ।

यह बात स्पष्ट है कि कविता का संबंध अव्यक्त सत्ता से नहीं है । कविता अरूप पर नहीं लिखी जा सकती । कबीर ने अपनी कविता में जगत् और ब्रह्म की अभिव्यक्ति की है । कविता उस जगत् की अभिव्यक्ति के लिए लिखी जाती है । कई विद्वानों ने कबीर की इस अभिव्यक्ति पर प्रहार किया है कि अज्ञात को जानने की इच्छा हो सकती है प्रेम नहीं । यह सत्य है कि प्रेम के लिए परिचय आवश्यक है । परन्तु कबीर में यह परिचय एक रेखाचित्र के माध्यम से उभरता है । वह अस्पष्ट है पर शून्य नहीं । इसी अस्पष्ट चित्र को प्रेम प्रतीकों का सहरा लेकर कबीर अपना संबंध उस परम सत्ता से जोड़ते चले जाते हैं । यह प्रेम लीला एक विशाल और विस्तृत रूप लेकर बहुत कुछ साकार रूप धारण करती है । अस्पष्ट रेखाओं का ज्ञान भक्त को होता है और वह उससे हृदय का संबंध स्थापित करता है । जिससे हृदय का संबंध स्थापित नहीं होता उससे प्रेम नहीं हो सकता । भक्ति में भगवान का कोई न कोई स्वरूप रचा जाता है । कबीर का निर्गुण भी कुछ स्वरूप ले लिया है इसीलिए उससे भक्ति संभव हो सकी है । कबीर का यह स्वरूप गढते गढ़ते उनका निर्गुण ठोस आकार ले लिया है । उसी आकार के साथ प्रेम करते हुए भगवान का यह रूप प्रकाशित हुआ है । इसीलिए लीला का पूर्ण विकास अवतारवाद में हुआ ।

भक्ति आन्दोलन का केन्द्रिय वक्तव्य प्रेम है । उसकी परिणति प्रेम लीला में हुई है । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रेम को परम पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसीलिए भक्ति में प्रेम तत्व को आवश्यक माना गया है, निर्गुण हो या सगुण प्रेम को महत्व देते हैं । निर्गुण आन्दोलन को पीठिका नाथ मत से मिली । निर्गुणी सन्त योग साधना से मुक्त नहीं हुए उन्होंने योग में प्रेम का समावेश किया है इसीलिए ब्रह्म का मूर्त रूप नहीं मिलता । भारतीय परंपरा के अनुसार कबीर ने परम पुरुष के प्रति प्रदर्शित नारी के प्रेम को स्थापितकिया है । इसीलिए परमात्मा को पति के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि इस प्रकार प्रकटित प्रेम भेंट स्वरुप होता है । परमात्मा द्वारा प्रदर्शित जीवों पर प्रेम स्वभावतः दया का रूप ग्रहण कर लेता है । कबीर की उपासना के दो अंग है । इस दुखालय और नश्वर जगत् के बनते मिटने वाले ब्रह्म रूप के प्रति उनका अत्यन्त दृढ वैराग्य है । उनकी साधना का दूसरा अंग है मृत्यु, विनाश अविनाशी, निस्सीम परम पुरुष के संस्पर्श, सुख का अनुभव । इस ब्रह्म संस्पर्श के उन्मादकारी मधु में कबीर ने अपनी साधना को अभिसिंचित किया है । सच्चे आनंद का रस लिया है और घूंघट का पट हटाकर अपने प्राण प्रिय का आलिंगन किया है । मृत्यु के उस पार प्रेम सौन्दर्य और आनन्द की लहराती हुई त्रिवेणी में अपनी आत्मा को रमण कराया है । उस अमर ज्योति से विश्व का कण-कण उदभासित हो रहा है ।

कबीर ने ब्रह्म से जीव के छिटकने की बात कही है, इसीलिए वह ब्रह्म में समा जाना चाहती है । जीवात्मा जो ब्रह्म से आयी है वह अपने मूल स्त्रोत में जाना चाहती है । यह अस्तित्व की पीड़ा है । अस्तित्ववादी संघर्ष है । आत्मा अपने अस्तित्व को प्राप्त करना चाहती है । ब्रह्म का रूप स्पष्ट नहीं है पर वह उससे प्रेम करती है । इस प्रेम के लिए उसे किसी मूर्ति या अवतार का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है । वह लौकिक प्रेम प्रतीकों से अपने प्रेम

की अभिव्यक्ति करती है । वह स्त्री-पुरुष के प्रतीकों द्वारा प्रेम को प्राप्त करना चाहती है । प्रेम की प्रगाढ़ता को व्यक्त करने के लिए कबीर ने कान्ता भाव का सहारा लिया । जीवात्मा संसार में जन्म लेती है, ब्रह्म का देश उसका ससुराल है । कबीर की यही प्रेम लीला प्रेम प्रतीकों के माध्यम से विकसित होती चली जाती है । इसीसे संबंधित पद तथा प्रेम लीला का वर्णन चौथे अध्याय में दे दिया गया है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर की प्रेम साधना सर्वोपरि है । जीवात्मा रूपी प्रेयसी और परमात्मा रूपी परम प्रियतम के रसमय, मधुमय और आनन्दमय शाश्वत प्रणयलीला विलास का मधु पान करना ही कबीर की प्रेम साधना का एक मात्र लक्ष्य है । आत्मा और परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय, मिलन प्रसंग आदि मधुर भावों को लेकर कबीर ने जिस माधुर्यमय रहस्यवाद की अवतारणा की है वह दुर्लभ है । राजा राम को अपना पिउ और स्वंय को उनकी बहुरिया के रूप में परिकल्पित करके संयोग एवं विप्रलंभ मधुर भक्ति रस की विविध दशाओं का प्राणमय वर्णन अन्य कहीं नहीं है । इस प्रकार आत्मा ,पर- मात्मा ,की मधुमय लीला का आस्वादन करना ही उनका परम काम्य है । इस प्रेमवाद के प्रवाह में सारा द्वैत बह गया है । जीवात्मा और परमात्मा का सहज विलास ब्रह्म और उनकी शक्तियों की आनन्द केलि भक्त-प्रेयसी और भगवान प्रियतम की शाश्वत प्रेम लीला ही मधुर भाव साधना का मूल स्थान है ।

इस विवेचन के आधार पर उन प्रश्नों का उत्तर यह सिद्ध करने में सहायक हो सकता है कि निर्गुण के साथ यह प्रेम लीला कैसे संभव हो सकता है, और इस प्रेम लीला का परवर्ती सगुण भक्ति आन्दोलन पर इसका प्रभाव कैसे पड़ा । सगुणवादियों का यह कहना है कि प्रेम के लिए सूरत चाहिए, शरीर चाहिए जो निर्गुण धारा के कवियों में नहीं है । काव्यशास्त्र की भाषा में कबीर का ब्रह्म मूर्त नहीं है । इन सभी प्रश्नों का उत्तर कबीर की इस प्रेम लीला से सिद्ध हो जाता है कि प्रेम के लिए आकार चाहिए पर यह आवश्यक नहीं है कि उसके लिए किसी अवतार या मूर्ति तक उसे सीमित कर दिया जाए । प्रेम एक ऐसा भाव है जो अमूर्त को भी मूर्त करता है । कविता में आलम्बन बहुत महत्त्व रखता है ।

आलम्बन जब तक प्रमुख नहीं होता तब तक कविता नहीं लिखी जा सकती । तुलसी ने इसी प्रश्न को रखते हुए इन कवियों पर यह दोहा कह कर प्रहार किया था ।

" साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान ।
भगत निरूपहि भगति कलि निंदही वेद पुराण ।"

§ रामचरित मानस§ §उत्तराकांड§

यहाँ साखी, सबदी और दोहे से तुलसी का तात्पर्य कबीर और उनके अनुयायियों पर हमला किया । कहानी तथा उपाख्यान कह कर जायसी आदि प्रेमाख्यान कवियों पर प्रहार किया है । परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से कबीर साहित्य का अध्ययन किया जाए तो यह पता चलता है जितना प्रेममय और माधुर्य रहस्यवाद कबीर के साहित्य में मिलता है कहीं अन्यत्र नहीं । यह उचित है कि कबीर ने स्पष्ट रूप से अपने प्रियतम का रूप प्रस्तुत नहीं किया । पर उनके काव्य में लौकिक प्रतीकों के माध्यम से जो प्रणय व्यापार और प्रेम लीला उन्होंने दिखाई है वह आगे चलकर सगुण में पूरी तरह विकसित हुई है । यह द्रष्टव्य है कि कबीर की अभिव्यक्ति के उपादान सगुण परक है, केवल निहित तत्त्व निर्गुण परक है । स्पर्श, आलिंगन आदि क्रियाएँ, मानसिक धरातल पर होते हुए भी स्पष्टतः स्थूल है और साकार की अपेक्षा रखती है । आध्यात्म क्षेत्र में सगुण भावना का स्वरूप मुख्यतः मानसिक धरातल तक सीमित मिलता है । लोकपक्ष में इसकी परिणति प्रेयसी, पत्नी, विरहिणी आदि नारी के रूप में की गयी है ।

परवर्ती सगुण भक्ति आन्दोलन में संन्तों की लीला का रूपान्तरण:-

हिन्दी में निर्गुण भक्ति संबंधी साहित्यिक परंपरा को प्रतिष्ठित करने वालों में प्रमुख श्रेय संत कबीर को है । कबीर की साधना किसी एक मत को लेकर नहीं चली उन पर सभी मतों, वाणों का प्रभाव पड़ा । योग, एक ही ईश्वर और निराकार ब्रह्म की भक्ति में उन्होंने प्रेम तत्त्व का समावेश किया ।

इस प्रेम तत्व के समावेश के कारण ही उनका निराकार कुछ ठोस आकार लेने में सफल हुआ है । कबीर का यह प्रेम व्यापार मानसिक धरातल पर होते हुए लौकिक प्रतीकों का आश्रय लेते हुए "निर्गुण राम " का आलम्बन स्थापित करने में कुछ हद तक सफल हुआ है । कबीर का तादात्म्य सीधे भगवान से है, परमात्मा उनका प्रेमी, पति, पुरुष है और वे स्वंय उनकी प्रेयसी, पत्नी, स्त्री तथा विरहिणी है । यही स्त्री पुरुष के आलम्बन को लेकर उन्होंने प्रेम लीला का वर्णन किया है । क्योंकि प्रेम की गूढ़ अभिव्यक्ति केवल दाम्पत्य भाव में ही हो सकती है । कबीर की सीमा यही थी कि वे अपने प्रियतम को एक स्पष्ट रंगरूप देने में समर्थ नहीं थे क्योंकि उनके अनुसार भक्त से जब भगवान का साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् वह जब अपने प्रिय के दर्शन कर लेता है तो वह स्वंय उसमें रम जाता है और वाणी उस मिलन की व्याख्या करने में असमर्थ है । तथा दूसरी ओर कबीर पर अद्वैत का भी प्रभाव था जिससे वह अपने ब्रह्म को एक मूर्त रूप नहीं दे सके । किन्तु उनकी भक्ति वैष्णवों की भाँति प्रेम से ओत-प्रोत थी । यदि यह कहा जाय कि कबीर के प्रेम तत्व को लेकर ही सगुण भक्ति धारा आगे बढ़ी और कबीर ने जो केवल रेखाचित्र के माध्यम से एक अस्पष्ट आकार दिया था उसे पूर्ण किया और उसमें रंग भर कर एक अवतार के रूप में उसकी उपासना की तो अनुचित न होगा ।

संत मत से प्रभावित साहित्य:-

संत मत का प्रभाव परवर्ती सगुण भक्तों पर पड़ा है । कृष्ण भक्तों, राम धारा और सूफियों पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । कृष्णधारा के प्रभावित कवियों में मीरा का नाम सर्वोपरि है । मीरा में ऐसे पद अनेक मिलते हैं जो कबीर के प्रेम साधना से प्रभावित लगते हैं । जिस प्रकार कबीर स्वंय को ब्रह्म की पत्नी बहुरिया कहते हैं उसी तरह मीराबाई स्वंय को कृष्ण की प्रेयसी, पत्नी कहती है । वह कृष्ण की अनन्य भक्त है । कृष्ण के

सिवाय उसका कोई नहीं है । प्रेम, विरह, आत्मा और परमात्मा की एकता से संबंधित पद कबीर के पदों से बहुत साम्य रखते हैं । "तुम मोरे हूँ तोरे", "सतगुरू विरह लगाय के", पाटी परो ज्ञान की", तथा " तुम विच हम विच अंतर नाही " आदि पंक्तियाँ स्पष्ट ही इस बात का, प्रमाण है । "पिय के पलंगा जा पौढूँगी ", "सोहागिन नार", "ऊँचा ऊँचा महल पिया का ,"आदि विचार और प्रतीक प्राय: कबीर से ज्यों का त्यों मिलते हैं ।
विरह में दीवाना होना, खुमारी में मस्त डोलना एवं प्रेम में अमल का पान पीना सूफियों पर संतों का ही प्रभाव है ।

कृष्ण धारा के अन्य कवियों में उल्लेखनीय प्रभाव सूरदास पर भी दृष्टिगत होता है । यद्यपि ये संतों के आलोचक भी रहे हैं । उन्होंने जहाँ गोपियों के माध्यम से निर्गुण निराकार को फटकारा है वहीं उन्हें अनिर्वचनीय अविगत आदि भी कहा है । जैसे "मन बानी को अगम अगोचर " । तथा "उस अविगत की गति अकथनीय है । सूर सागर के भ्रमरगीत वाले भाग में उद्धव के उपदेश अधिकांशत: संतों के लिए जान पड़ते हैं --

> ताहि भजहु किन सबै सयानी । खोजत जाहि महा मुनि ज्ञानी
> जाके रुप रेख कछु नाहीं । नयन मूँदि चितबहुचित माही ।
> हृदय कमल में जोति विराजै । अनहद नाद निरंतर बाजे
> इड़ा पिंगला सुख मन नारी । सून्य महल में बसै मुरारि
> हे गोपी सुनु बात हमारी है वह सून्य सुपहु ब्रजारी ।

इसी तरह रहस्यवाद के मिलन तथा वियोग का संकेत भी देखने योग्य है । कबीर ने हंस, मछली आदि को आत्मा का प्रतीक माना है उसी प्रकार सूर भी चकई, शशि, भृंगी को आत्मा का प्रतीक मानकर रहस्यवादी ढंग की अभिव्यक्ति करते हैं--

हंसा प्यारे सरवर तजि कहँ जाय ?

{कबीर}

चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं

जिहिं सरोवर कमल कमला रवि कहीं विकसाहीं ।

{सूरदास}

यहाँ सखि शब्द एक आत्मा दूसरी आत्मा से कथन का संकेत करती है । अर्थात् कबीर की भाँति ही आत्मा को स्त्री और ब्रह्म को पुरुष माना गया है । सूर के एकाध पद तो कबीर से पूर्णतः मिलते जुलते हैं--

अपन पौ आपुही बिसरौ

....

कहहि कबीर ललनी के सुगना, तो हि कवनै पकरो ।।

{ कबीर बीजक विचारदास,प्र. सं. 2. पृ: 235}

अपुनपौ आपुन ही बिसरौ

....

सूरदास नलिनी को सवदा कहिं कौनै पकरयौ ।।

{सूरदास , सू. सा. पद:369}

सूरदास की राधा तथा गोपियों के विरह वर्णन में भी कबीर की विरहिणी आत्मा की झलक दिखाई देती है । जिस प्रकार कबीर की विरहिणी पथ देखते देखते थक जाती है, विरह की अग्नि में जल रही है, प्रियतम को संदेश देना चाहती है तथा उसके दर्शन को तरसती है वही स्थिति सूरदास के गोपियों और राधा की भी है । वे भी कृष्ण के वियोग में तड़प रही है हर आने जाने वाले से अपने प्रियतम के बारे में पूछती है तथा उसके विरह में सूख कर काँटा हो गई है । इस तरह कबीर ने जो प्रेयसी, विरहिणी का वर्णन किया है ठीक उसी तरह का मिलता जुलता वर्णन सूर में भी मिलता है ।

रामधारा के कवियों पर कृष्णधारा की तुलना में कम प्रभाव पड़ा है । इस धारा के प्रथम हिन्दी कवि के रूप में प्राय: रामानन्द का उल्लेख किया जाता है । इनका एक ग्रंथ "योग चिंतामणि" है जिसमें संतों की शब्दावली एवं विचार वाले पद मिलते हैं ।

रामधारा के दूसरे कवि तुलसी है । तुलसी पर संतधारा का प्रभाव विशेष रूप से नहीं पड़ा पर मानस के उत्तरकाण्ड मे, अखंड, अनन्त, अगुण, निर्गुण आदि शब्दों से ब्रह्म का वर्णन किया है वह संतों से भिन्न नहीं है । जैसे--

" सियाराम मय सब जग जानीं ।

§तुलसी§

"खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई ।"

--कबीर.

संत कबीरदास के अस्पष्ट रूप को लेकर सगुणवादियों ने उसे एक ठोस आकार दिया तथा उसमें रंग भर कर एक मोहक रूप की कल्पना की । इसी रूप को उन्होंने अपने काव्य का आलम्बन बनाया । निर्गुण की इसी सीमा को सगुणधारा के कवियों ने समझा और निर्गुण के प्रेम तत्त्व को विकसित करते हुए उसे अवतार का रूप दिया । यही अवतार आगे चलकर राम और कृष्ण के रूप में विख्यात तथा प्रसिद्ध हुए । प्रेम निर्गुण को सगुण बना देता है । यह उक्ति तुलसीदास ने कही थी और उसे सिद्ध भी किया था । निर्गुणियों के प्रेम ने ही अवतारवाद को जन्म दिया । निर्गुणियों का प्रेम जो अस्पष्ट, अरूप, रेखाचित्र था उसे स्पष्ट, रंगरूप देकर सगुणवादियों ने उसकी अवतार के रूप में स्थापना की । सगुणधारा में आकर निर्गुण प्रेम का विकास हुआ इसकी परिणति अनेक देवी-देवताओं में पूर्ण हुई ।

जहाँ संत कवि स्वंय को परमात्मा से जोड़ कर प्रेमाभिव्यक्ति करते थे वहीं सगुणवादियों ने ईश्वर की इकाई को बाँट कर देवी-देवता का रूप दिया और उनके प्रेम लीला का वर्णन किया । सगुणधारा में वे कवियों ने स्वंय को

भगवान से अलग रखा और उनके प्रेम की अभिव्यक्ति अवतारों के माध्यम से की । जैसे सीता के साथ राम के प्रेम की व्याख्या की । कृष्ण के साथ राधा तथा गोपियों के प्रेम को प्रस्तुत किया । निर्गुण कवि स्वंय को ही इस प्रेम लीला का भागीदार बनाता था किन्तु आगे चलकर अर्थात् सगुणधारा में आकर यह प्रेम देवी देवताओं तक ही सीमित हो गया ।

अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कबीर ने जिस मनोवैज्ञानिक आधार पर आत्मा और परमात्मा के मिलन की बात कही, उनके प्रेम को व्यक्त करने के लिए लौकिक प्रतीकों का सहारा लिया और जिस प्रेम लीला का वर्णन किया वही सगुण भक्ति धारा में अवतारों को ग्रहण करके रामलीला और कृष्ण-लीला के रूप में विकसित हुई । निर्गुणियों के प्रेम ने ही अवतारवाद को जन्म दिया । सगुण आन्दोलन निर्गुण का विकास है प्रतिक्रियावाद नहीं है । निर्गुण के अपूर्ण प्रेम को पूर्ण करने के लिए सगुण भक्ति आन्दोलन का विकास हुआ । और इसी विकास ने ही आज हमें राम और कृष्ण के रूप जैसे अवतार दिये है । जिसकी प्रेम लीला आज भी भक्तों द्वारा की जाती है । अर्थात् कबीर के "निर्गुण राम" ही सगुण भक्ति धारा के दसरथ सुत राम हुए । जिनके माध्यम से सगुण भक्ति ने एक आदर्श प्रेम और आदर्श समाज के स्थापना की कल्पना की ।

उपसंहार

भारतीय धर्म साधना के इतिहास में कबीर का स्थान अद्वितीय है जिसका कारण उनका व्यक्तित्व और वाणी है । मध्ययुगीन इतिहास अनेक प्रकार के राजनीतिक, ऐतिहासिक और धार्मिक आन्दोलन से भरा पड़ा है । ऐसे समय में हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नई काव्य धारा सन्त काव्य धारा प्रस्फुटित हुई जो समाज में शाँति और सामाजिक भेद भाव मिटाने में तथा नयी क्राँति लाने में सफल हुई । वस्तुतः सन्त काव्य ईश्वरोन्मुख एवं विचार प्रधान है । सन्त साहित्य की अनुभूति और आध्यात्मिक विचारों का भण्डार है । इसमें लोक कल्याण की भावना और नैतिकता पर बल दिया गया । सन्त काव्य के अन्तर्गत सिद्धों का अक्खड़पन, योगियों की ज्ञान साधना, सूफियों की मस्ती और वैष्णवों की प्रेम भावना का मिश्रण है । संत काव्य में सगुण भक्ति के तत्वों का समावेश उसी मिश्रण का कारण है । वस्तुतः निर्गुणवाद और सगुणवाद संत मत के दो पक्ष है । संत मत के प्रवर्तक कबीर माने जाते हैं जिन्होंने प्रेमाभक्ति का प्रसार किया । कबीर दास महान् विचारक एवं प्रतिभाशाली कवि थे जिन्होंने भारतीय जनता का पथ प्रदर्शन किया । उनके द्वारा चलायी गयी क्रान्ति ने भारतीय दर्शन, समाज धर्म एवं इतिहास को प्रभावित किया । कबीर ने काव्य सृजन करने का प्रयास नहीं किया , उन्होंने जो कुछ कहा है उसमें दार्शनिक तत्व अवश्य आये हैं । कबीर के काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है । उन्होंने स्पष्ट कहा है " मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता है कागर की लेखी " । उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सहजता और अभिव्यंजना शैली है । उनकी अभिव्यंजना शैली बड़ी शक्तिशाली है जिसका उदाहरण उनकी साखियाँ है । उनकी साखियों में ज्ञान, भक्ति, योग, आत्मा-परमात्मा आदि विषयों को बड़े सुबोध ढंग से व्यक्त किया है । उनके काव्य में बुद्धि तत्व और भावना तत्व का सामंजस्य सुन्दर ढंग से हुआ है । उनकी भक्तिधारा में एक ओर रहस्यवाद के भावात्मक पक्ष को व्यक्त करने वाले पद है तो दूसरी ओर सत्य की अनुभूति और ज्ञान की गंभीरता है । उनकी कविता में कल्पना शक्ति के दर्शन सर्वत्र होते हैं ।

भारतवर्ष के मध्ययुगीन इतिहास की सबसे प्रमुख घटना भक्ति आन्दोलन है । भक्ति ऐकान्तिक और व्यक्तिनिष्ठ साधना है । सन्तों का धर्म भक्ति और उसका मार्ग प्रेम था । संतों ने भक्ति के लिए प्रेम तत्त्व को आवश्यक माना । यद्यपि संतों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म को माना है । उनका ब्रह्म विश्व के कण-कण में व्याप्त है । उसके प्रति जिज्ञासा, उत्सुकता, प्रेम तथा विरह को अपने काव्य का विषय बनाया । संतों की भक्ति का मूल परम प्रियतम को प्रेम द्वारा प्राप्त करना था । परमात्मा को प्राप्त करने के लिए संतों ने कई रूप में ब्रह्म की उपासना की है, वह पत्नी, प्रेयसी, विरहिणी, सती आदि रूपों में परब्रह्म से प्रेम करती है । आत्मा-परमात्मा के इन प्रेम संबंधों को हम निर्गुण प्रेम लीला कह सकते हैं । यह लीला लौकिक न हो कर अलौकिक है, स्थूल न हो कर सूक्ष्म है । संतों ने शुष्क ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को महत्त्व दिया है । ईश्वर से प्रेम करना और प्रेमानुभूति द्वारा उसका साक्षात्कार करना ही संतों की प्रेम साधना का चरम लक्ष्य है ।

कबीर ने इस प्रेम की अभिव्यक्ति दाम्पत्य मधुर भाव में की है । परमात्मा और आत्मा के संबंध को उन्होंने पति-पत्नी के रूप में ग्रहण किया है । अपने इष्ट देव के प्रति जितनी निकटता और घनिष्ठता का संबंध दाम्पत्य भाव में हो सकता है उतना किसी अन्य भाव में नहीं । प्रेम में समानता, गूढ़ता तथा समर्पण का भाव पति-पत्नी या प्रिया-प्रेयसी के प्रेम में ही हो सकता है । कबीर ने भी ब्रह्म के प्रति इसी तरह अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की है । उसी प्रेम लीला का प्रभाव सगुणवादी भक्तों पर भी पड़ा है । सगुणवादियों ने इसी प्रेम भाव को अपने काव्य में स्थान दिया है । परन्तु उनका यह प्रेम निराकार के प्रति न होकर सगुण अवतार के प्रति है । एक और अन्तर यह है कि सगुणवादी भक्त इस लीला का द्रष्टा है भागीदार नहीं । वह भगवान को ही पति-पत्नी, जैसे राम-सीता, प्रिय और प्रियतमा जैसे राधा-कृष्ण आदि अवतारों के रूप में ग्रहण करते हैं । उनकी लीला का वर्णन करते हैं । इस प्रकार आत्मा-परमात्मा की प्रेम लीला का रसास्वादन करना संतों की प्रेम साधना का चरम लक्ष्य है । यहाँ द्रष्टव्य है कि अभिव्यक्ति के उपादान सगुण परक है, निहित तत्त्व निर्गुण परक है । उसमें अवतारी भगवान के सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान है । अतः संत मत एवं प्रेम भक्ति दोनों से पूर्ण है ।

सन्तगण सारग्राही थे । आध्यात्म और स्वतंत्र चिंतन उनकी विशेषता थी । अतः जिस विचारधारा में उनको सत्य के दर्शन हुए, वहाँ से उन्होंने सत्य को ग्रहण किया । संतों ने जहाँ जैन, बौद्ध दर्शनों से तत्त्व ग्रहण किया वहीं सिद्धों और योगियों की दर्शन पद्धति को भी अपनाया । संतों पर इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव भी पड़ा है । वह परमात्मा को विश्व का कर्ता-धर्ता नियंता, शासक और घट-घट में व्याप्त मानते हैं । सभी दर्शनों से प्रभावित होते हुए भी संतों का झुकाव वैदिक अद्वैतवाद की ओर अधिक दिखायी देता है । कबीर ने सर्वत्र वेदों की भाँति ब्रह्म की एकता और अद्वैतता को माना है । वैष्णव धर्म के सिद्धांतों का भी प्रभाव अवश्य पड़ा है । भागवत में कई स्थानों पर निर्गुण ब्रह्म का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है । इस तरह स्पष्ट है कि निर्गुणी संतों में एकेश्वर की भावना वैदिक उपनिषदों और इस्लामी एकेश्वरवाद से प्रभावित है । कबीर ने ब्रह्म से जीव को छिटकने की बात कही है। जीवात्मा जो ब्रह्म से आई है वह अपने मूल स्रोत में जाना चाहती है । यह अस्तित्व की पीड़ा है यह अस्तित्ववादी संघर्ष है । निर्गुणियों का ब्रह्म स्वरूप स्पष्ट नहीं है पर वह ब्रह्म से प्रेम की बात कहते हैं । इसी प्रेम को व्यक्त करने के लिए कबीर ने लौकिक प्रेम प्रतीकों का सहारा लिया है । इसकी अभिव्यक्ति कान्ता भाव में हुई है । निर्गुणियों की कान्ता भाव की भक्ति का पूर्ण विकास सगुण अवतारवाद में हुआ है । कविता में आलंबन बहुत महत्त्व रखते हैं । आलम्बन जब तक प्रमुख नहीं होता तब तक कविता नहीं लिखी जा सकती। संतों में आलम्बन का रूप स्पष्ट नहीं है । सगुणवादियों ने निर्गुण की इस सीमाओं को समझा और अस्पष्ट आकार को एक रूप रंग देकर अवतारों की कल्पना की । यही अवतार आगे परवर्ती सगुण भक्ति आन्दोलन में राम, कृष्ण, राधा आदि नामों से अभिहित किये गये । " प्रेम निर्गुण को सगुण बनाता है " । प्रेम ने ही अवतारवाद को जन्म दिया । सगुण आन्दोलन निर्गुण भक्ति का विकास है, प्रतिक्रियावाद नहीं । निर्गुण के अपूर्ण प्रेम को पूर्ण करने के लिए सगुण भक्ति आन्दोलन का विकास हुआ ।

भाषा भावों को अभिव्यक्ति करने का साधन है । वह हमारे विचारों और भावों को संप्रेषित करती है । भाव तभी उपयुक्त माने जाते हैं जब उनको कहने की भाषा समर्थ हों । काव्य में भावों और विचारों की व्याख्या ही नहीं होती उनका चित्रण भी होता है । सन्तों की भाषा शैली सशक्त है । उसमें अलंकार, वक्रोक्ति, बिंब आदि सभी गुण विद्यमान है । भक्त कवियों ने भगवान के अलौकिक, अगम्य, निराकार, निर्गुण एवं अनिर्वचनीय रूप को वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है । उस अरूप की रूप कल्पना, सौन्दर्य की व्यंजना करने में साधारण भाषा असमर्थ होने के कारण कबीर ने प्रतीकों , उलटवासियों का प्रयोग किया है । प्रतीक भावों को सरलता पूर्वक अभिव्यक्त करते हैं । प्रतीकों का प्रयोग अधिकतर दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है । कबीर के काव्य में दाम्पत्य एवं वात्सल्य प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है । कबीर दास के काव्य में व्यवहृत प्रतीकों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने वैदिक काल के परंपरागत पारिभाषिक प्रतीक हंस, पद, वृक्ष, सिद्धनाथ के साधनात्मक पारिभाषिक प्रतीक जैसे यमुना, पिंगला, इडा, गंगा तथा सूफियों की प्रतीकात्मक पद्धति से आत्मा परमात्मा के मध्य प्रिया, प्रियतमा, पत्नी, विरहिणी आदि कई तरह के प्रतीको का प्रयोग किया है ।

कबीर सिद्ध हस्त कवि नहीं थे और न ही उन्होंने कविता करने का प्रयास किया है । उन्होंने कवि कर्म को व्यर्थ मरना भी कहा है । इसीलिए उनके काव्य में संस्कृतनिष्ठ शब्दों, अलंकारों का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है । कबीर साहित्य के विशेषज्ञ डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर की भाषा को भावानुरूपिणी मानते हैं , जो उनकी भाषा का सर्वोत्तम गुण है । भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था । इसलिए उन्हें वाणी का " डिक्टेटर" भी कहा जाता है । कबीर दास की रचनाओं में भाषा के विविध रूप मिलते हैं । उनकी भाषा सहज, कोमल, स्निग्ध, तीखापन एवं ऋजुता ये चारों गुणों से पूर्ण है । उनकी भाषा प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से युक्त एक समर्थ कवि की वाणी है । कबीर ने अपने काव्य में अलंकारों का प्रयोग जानबूझ कर नहीं किया फिर भी भावानुभूति की तीव्रता में उनकी वाणी से जो शब्द प्रस्फुटित हुए स्वंय अलंकारों के रूप में सामने आये हैं । उनके काव्य में

रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, लोकोक्ति, दृष्टान्त, विभावना आदि अलंकारों का प्रयोग मुख्य रूप से हुआ है ।

अतः हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि कबीर एक उच्च कोटि के संत कवि थे जिन के काव्य में भावों की तीव्रता, प्रेमानुभूति तथा भावात्मक रहस्यवाद के सभी गुणों का समावेश हुआ है । कुछ विद्वान उन्हें कोरे निर्गुणवादी , समाज सुधारक और फक्कड़ मानते हैं जो उचित नहीं है । कबीर ने ज्ञान के साथ-साथ प्रेम को भक्ति का एक विशेष अंग माना है । उनकी भक्ति माधुर्य भाव से ओत-प्रोत है । निर्गुण निराकार को कुछ हद तक एक अस्पष्ट आकार देने में कबीर सफल हुए हैं । उसी अस्पष्ट आकार को बाद में सगुणवादी भक्तों ने रूप रंग दे कर उसे अवतार के रूप में ग्रहण किया । कबीर के प्रेम तत्व और निर्गुण की लीला का विकसित रूप ही सगुण भक्ति में पाया जाता है । प्रेम द्वारा ही ईश्वर को पाने की बात संतों ने बार-बार कहा है । सूफियों की भाँति परमात्मा और आत्मा में दाम्पत्य संबंध स्थापित किया है । प्रेम के माध्यम से आत्म समर्पण करना तथा उसकी सत्ता में स्वंय को विलय करना ही प्रेम साधना की उपलब्धि है ।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि कबीर में वे सभी गुण विद्यमान थे जो परवर्ती सगुण भक्ति कवियों में पाये जाते हैं । कबीर के काव्य का प्रयोजन लोक मंगल की भावना है । उनकी आत्मानुभूति सहज है और साथ ही उसमें लोक कल्याण की भावना भी प्रबल है । इस प्रकार कबीर का सम्पूर्ण काव्य उनकी आत्मानुभूति का सहज उद्रेक है ।

संदर्भग्रंथ सूची

1. सौन्दर्य शास्त्र के तत्व -- डॉ. कुमार विमल .

2. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान -- कौशिक जगदीश प्रसाद

3. कबीर साहित्य की परख -- चतुर्वेदी परशुराम .
भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद -- तृतीय संस्करण -- 1972.

4. कबीर साहित्य चिंतन -- चतुर्वेदी परशुराम .
स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद , प्रथम संस्करण 1970.

5. मध्यकालीन प्रेम साधना -- चतुर्वेदी परशुराम .
साहित्य भवन प्रा. लि. इलाहाबाद, तृतीय संस्करण 1962.

6. कबीर जीवन और दर्शन -- तिवारी भोलानाथ .
गिरिश टंडन द्वारा प्रकाशित, साहित्य भवन, इलाहाबाद , प्रथम संस्करण, 1978.

7. कबीर -- द्विवेदी हजारी प्रसाद .
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण , 1976.

8. साहित्य सिद्धान्त -- द्विवेदी राम अवध .
प्रकाशक-- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, सन् 1962 ई.

9. कबीर काव्य के प्रतीक विधान -- इन्द्रजीत गौतम ,

10. कबीर ग्रंथावली -- मिश्र भगवत स्वरूप,
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, तृतीय संस्करण- 1977.

11. कबीर का रहस्यवाद -- वर्मा राम कुमार ,
साहित्य भवन, इलाहाबाद, ग्यारहवां संस्करण 1972.

12. कबीर एक अनुशीलन -- वर्मा राम कुमार ,
साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 1983.

13. हिन्दी साहित्य कोश -- वर्मा धीरेन्द्र
मुद्रक व प्रकाशक -- ज्ञान मंडल लि. वाराणसी .

14. कबीर वचनामृत -- डॉ. विधेन्द्र स्नातक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस , नयी दिल्ली ,

15. कबीर और जायसी -- राम शिव मूर्ति.
वीना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1976.

16. कबीर कल्पना शक्ति और काव्य संदर्भ -- शर्मा ब्रह्म दत्त
भारतीय अनुसंधान परिषद्, शिमला, प्रथम संस्करण 1969.

17. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त -- शर्मा सरनाम सिंह .

18. हिन्दी साहित्य में माधुर्य भाव -- शर्मा रामचरण .

19. हिन्दी साहित्य में विविध वाद -- शुक्ल प्रेम नारायण .

20. कबीर एक नव्य बोध -- शुक्ल बैजनाथ प्रसाद .
साहित्य कुटीर, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1975.

21. चिन्तामणी भाग-8 -- शुक्ल रामचन्द्र.

22. हिन्दी साहित्य का इतिहास -- शुक्ल रामचन्द्र .

23. कबीर काव्य कोश -- सिंह वासुदेव.
विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987 ई .

24. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद -- सिंह विजेन्द्र नारायण .
परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण , 1971 ई.

25. कबीर की विचारधारा -- त्रिगुणायत गोविन्द
साहित्य निकेतन प्रकाशन , कानपुर , तृतीय संस्करण , सं 2024 .

26. निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों में मधुरा भक्ति -- मिथिलेश शरण मीतल .
राज्य श्री प्रकाशन, मथुरा , 1976-77.

27. हिन्दी संत साहित्य में माधुर्य भाव -- डॉ. रामचरण वर्मा.

28. कृष्ण काव्य में लीला वर्णन -- जगदीश चन्द्र भारद्वाज .
निर्मज कीर्ति प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण - 1979 .

29. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय --पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल.
अनुवादक -- परशुराम चतुर्वेदी .
नवज्योति प्रेस, लखनऊ, प्रथम संस्करण , सं. 2000 विं

30. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास -- सं. परशुराम चतुर्वेदी
चतुर्थ भाग § भक्तिकाल-- निर्गुण भक्ति § 1000--1000 वि.
नागरी प्रचारिणी सभा , वाराणसी .

31. हिन्दी सन्त काव्य में सगुण भावना -- डॉ. भृगुनाथ तिवारी .
सुलभ प्रकाशन, लखनऊ , प्रथम संस्करण 1987 .

32. उत्तरी भारत की संत परंपरा -- परशुराम चतुर्वेदी
भारतीय भंडार, प्रयाग -2011.

33. कबीर दर्शन -- डॉ. रामजीलाल सहायक
लखनऊ विश्वविद्यालय , 1962 .

34. चरनदास की बानी भाग-1, 2, बेलवेडियर प्रेस , प्रयाग-1952.

35. जायसी ग्रंथावली -- सं रामचन्द्र शुक्ल, काशी.

36. दादूदयाल की बानी , भाग-1, 2 -- बेलवेडियर प्रेस, प्रयोग-1963-1958.

37. पलटू साहिब की बानी -- बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, 1962 .

38. भक्ति का विकास -- डॉ. मुंशीराम शर्मा, वाराणसी, 1958.

39. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद -- डॉ. कपिलदेव पांडेय, 2020.

40. विनय पत्रिका -- गीता प्रेस, गोरखपुर .

41. संत साहित्य -- डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल

42. सूर सागर, प्रथम एवं द्वितीय खंड -- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

43. हिन्दी का निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि --डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, कानपुर 1961.

44. हिन्दी साहित्य की भूमिका -- डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बंबई. 1954.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. कल्याण - वेदान्तक और परिशिष्टांक --गीता प्रेस, गोरखपुर, अगस्त-1936.

2. कल्याण - उपासना अंक - गीता प्रेस, गोरखपुर, जनवरी-1968.

3. कल्याण - संतवाणी अंक - वही, जनवरी 1955.

ENGLISH BOOKS

1. Encylopaedea of Religion .X Ethics.
2. Hundred Poems of Kabir - Ravindranath Tagore.
3. History of Indian Philosophy - Radhakrishna.
4. Kabir & the Bhakti movement - Dr.Mohan Singh.
5. Religions Sects of Hindus - Willson.
6. Influence of Islam on Indian Culture +Dr.Tarachand.